प्रमुख पुराणों के सन्दर्भ में राष्ट्र तथा राष्ट्रिय भावना का विकास

(बुन्देलखण्ड वि० वि० झाँसी की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

卐

वर्ष- १९९४

शोध पर्यवेक्षक-
डा. गदाधर त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर, [झाँसी] उ० प्र०

शोधकर्ता-
श्रीधर
पुरानी हाट
जालौन (उ०प्र०)

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)

1

प्रमाण पत्र

+++++++++++++++

प्रमाणित किया जाता है कि श्री श्रीधर ने मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर अपना शोधकार्य पूर्ण किया है। यह इनकी मौलिक कृति है, जो इनकी अनुसन्धान दृष्टि को प्रकट करती है। मैं इनके सतत् साफल्य की कामना करता हूं।

ह0/-

[डॉ0 गदाधर त्रिपाठी]

अध्यक्ष, संस्कृत - विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मऊरानीपुर [झांसी]

कार्तिक पूर्णिमा

सम्वत् 2051

प्रस्तावना

****

प्रमुख पुराणों के सन्दर्भ में राष्ट्र और राष्ट्रियभावना- शीर्षक से पूर्ण किये गये मेरे इस शोध प्रबंध के प्रति यही भाव मेरे मन में रहा है , कि हम अपने राष्ट्र और राष्ट्रिय भाव को प्राचीन रूप में तथा अद्यतन रूप में ठीक से जान सकें और उसे अपने हृदय में ठीक से धारण कर सकें; क्योंकि आज के समय में इसकी परम आवश्यकता है। आज एक प्रकार से हमारा राष्ट्र और हमारी राष्ट्रिय भावना अपनी पहचान के संक्रमणकाल से गुजर रही है। मैं देश की रक्षा में लगी हुई पदाति सेना का एक सदस्य हूं इसलिए मेरे मन में इन भावनाओं के लिए, दूसरे देशवासियों की तरह अधिकतम आदर और प्रेम का भाव है। इसी की प्राप्ति के लिए और इसकी भावना के प्रसार के लिए यह शोध प्रबंध प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्याय की विषय वस्तु में कोशकारों की दृष्टि से राष्ट्र तथा राष्ट्रिय-भावना की परिभाषा प्रस्तुत की गई है और आधुनिक समय में उसे जिस रूप से "नेशन" के अर्थ में समझा गया है- इसका विवेचन किया गया है।

इसका द्वितीय अध्याय वेद वाङ्मय से सम्बंधित है और वेद साहित्य में जिस प्रकार से राष्ट्र तथा राष्ट्रियता का निरूपण किया गया- इसका सांगोपांग विवेचन है जबकि इस शोध प्रबंध के तृतीय अध्याय में अठारह पुराणों का परिचय, उनका रचना वैशिष्ट्य, रचना समय ,रचनाकारों का संकेत एवं उनकी विषयवस्तु की अप्रतिम स्थिति का निरूपण है।

{2}

इस शोध प्रबंध का चतुर्थ अध्याय एक प्रकार से केन्द्रीय अध्याय है और इसमें पुराणगत सामग्री के आधार पर राष्ट्र और राष्ट्रियता के भाव की समीक्षा की गई है। वहाँ पर यह देखा गया है कि पुराण अपनी मातृभूमि को राष्ट्र और उसके प्रति लगाव के भाव को राष्ट्रियता के भाव से जोड़ते हैं। इसमें वे राष्ट्र के सभी अंगों की गणना करते हैं और उनके प्रति अपनी महनीय भावनाओं को वाणी देते हैं।
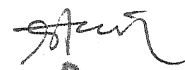
शोध प्रबंध के पंचम अध्याय में निष्कर्ष स्वरूप राष्ट्र के प्रारम्भिक स्वरूप का पुनरावलोकन करते हुए उसे अधुनातन रूप से मिलाकर देखने का प्रयत्न किया गया है। इसी तरह से राष्ट्रियता की स्वरूपा व स्थितिका समीक्षात्मक विवरण भी इस अध्याय में प्रस्तुत है। इस प्रकार से यह शोध प्रबंध पूर्ण हुआ है।

इस शोध प्रबंध की पूर्णता के लिए मैं सर्वप्रथम इसके निर्देशक डॉ० गदाधर त्रिपाठी, अध्यक्ष संस्कृत -विभाग, श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं जिनकी सहायता के बिना इस शोध प्रबंध की पूर्णता सम्भव ही नहीं होती है। मेरे माता-पिता मेरे लिए आदर्श और प्रेरणा के स्त्रोत रहे हैं, जिनकी कृपा से आज मैं यह कार्य पूरा कर पाया हूं।

मैं झांसी में रहकर इस प्रबंध के लिए सहायक पुस्तकें जिला पुस्तकालय से प्राप्त करता रहा हूं और इस पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री राकेश पाठक जी का अत्यन्त आभारी हूं। जिनकी अहैतुकी सहायता ने मुझे अत्यधिक संबल प्रदान किया। इसी के साथ-साथ इस ग्रन्थ के प्रणयन में जिन लेखकों और विद्वानों का मार्ग दर्शन मिला है तथा जिनकी कृतियों का आधार

प्राप्त किया गया है, मैं उन सभी के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। इसी के साथ इस शोध प्रबंध की टंकक सुश्री इन्दुमती गुप्ता भी धन्यवाद की पात्रा हैं जिन्होंनें अपनी समय सीमा में इसका टंकण कार्य कर इसे पूर्ण करने में सहयोग किया।

श्रीधर

शोधकर्ता

ग्रन्थ संकेत सूची
(२)

क्र०सं०	संकेत	ग्रन्थ नाम
1.	अ०वे०	अथर्ववेद (मूलमात्र)
2.	अथर्व (प्र०)	अथर्ववेद प्रथम भाग
3.	अथर्व (द्वि०)	अथर्ववेद द्वितीय-भाग
4.	अ०पु०	अग्नि पुराण
5.	अ० शा०	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
6.	आ० रा० वि०	आधुनिक राजनीतिक विचारधारा
7.	आ०रा०वि०	आधुनिक राजनीतिक विचारधारायें
8.	इ०सं०डि०	इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी
9.	इ०सा०अ०	इम्पिरिकल आँफ साउथ अफ्रीका
10.	इ०हि०क्वा०	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर (भाग-6)
11.	ई०द्वा०उ०	ईशादिद्वादशोपनिषद्
12.	उ०स्मृ०	उशनः स्मृति
13.	उ०स०गी०	उत्तर सत्याग्रह गीता
14.	ऋ०सं०(चं०)	ऋग्वेद संहिता (चतुर्थ भाग)
15.	ऋ०(च०)	ऋग्वेद (चतुर्थ भाग)
16.	ऋक्(प्र०)	ऋग्वेद (प्रथम भाग)
17.	ऋ०वे०	ऋग्वेद(सायणभाष्य सहित)
18.	ऋक्(द्वि)	ऋग्वेद (द्वितीय खण्ड)
19.	ए०इ०हि०ट्रे०	ऐन्स्यण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन
20.	ए०हि०सं०लि०	ए हिस्ट्री आँफ संस्कृत लिटरेचर
21.	ऐ०ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण

॥ ।॥

22.	कल्याण	कल्याण ॥हिन्दू संस्कृति अंक॥
23.	क0हि0वा0पु0	कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम द वायु पुराण
24.	का0 क0	कादम्बरी कथामुखम्
25.	कादम्बरी	कादम्बरी
26.	का0	काशिका
27.	कि0	किरातार्जुनीयम् ॥द्वितीय सर्ग॥
28.	कू0पु0	कूर्मपुराण
29.	कौ0गृ0	कौषीतकि गृह्यसूत्र
30.	कौ0अर्थ0	कौटिलीय अर्थशास्त्र
31.	कौ0अ0	कौटिलीय अर्थशास्त्रम्
32.	ग0पु0	गरुड़ पुराण
33.	गोपथ ब्राह्मण	
34.	छान्दो0	छान्दोग्योपनिषद्
35.	ज0रा0ए0सो0	जनरल ऑफ रायलएशियाटिक सोसायटी
36.	तै0आ0	तैत्तरीय आरण्यक
37.	द0पु0पं0ल0	दशपुराण पञ्चलक्षण
38.	दे0भा0	देवी भागवत
39.	ध0शा0इ0	धर्मशास्त्र का इतिहास
40.	ना0पु0 ॥प्र0॥	नारद पुराण॥प्रथम भाग॥
41.	ना0पु0॥द्वि0॥	नारद पुराण ॥द्वितीय भाग॥
42.	प0पु0	पद्म पुराण
43.	पद्मपुराण ॥प्र0॥	पद्मपुराण ॥प्रथम खण्ड॥
44.	प0पु0॥।॥	पद्मपुराण ॥प्रथम खण्ड॥
45.	प0 पु0	पद्मपुराण

(iiii)

46.	प्र0रा0वि0	प्रमुख राजनीतिक विचारक
47.	प्रति0रा0वि0	प्रतिनिधि राजनीतिक विचारधारा
48.	पा0सा0ग0	पालिटिक्स साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट
49.	पा0रा0वि0	पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें
50.	प्रिं0पा0सा0	प्रिंसिपल्स ऑफ पालिटिकल साइंस
51.	पु0मी0	पुराण तत्व मीमांसा
52.	पु0वि0	पुराण विमर्श
53.	पु0इ0	पुराण इन्डेक्स
54.	पु0प0	पुराणम् पत्रिका
55.	पु0स0	पुराण समीक्षा
56.	पौ0ध0स0	पौराणिक धर्म एवं समाज
57.	फ0पा0आ0	फण्डामेन्टल्स ऑफ पालिटिकल साइंस एण्ड आर्गनाइजेशन
58.	बृ0हि0को0	बृहद् हिन्दी कोश
59.	बृ0ना0पु0	बृहन्नारदीय पुराण
60.	बृहदारण्यक	बृहदारण्यक उपनिषद्
61.	ब्रह्माण्ड पुराण	
62.	ब्र0पु0	ब्रह्म पुराण
63.	ब्र0वै0	ब्रह्मवैवर्त पुराण
64.	बौ0गृ0	बौधायन गृह्यसूत्र
65.	भ0पु0(प्र0)	भविष्य पुराण (प्रथम खण्ड)
66.	भ0पु0 (द्वि0)	भविष्य पुराण (द्वितीय खण्ड)
67.	भ0पु0वै0	भविष्य पुराण
68.	भ0पु0 सं0	भविष्य पुराण (द्वितीय खण्ड)

( )

69.	भा०डि०	भार्गवाज डिक्शनरी
70.	भा०स्टै०इ०डि०	भार्गव स्टैण्डर्ड इलस्ट्रेटेड डिक्शनरी
71.	भा०पु०	श्री मद्भागवत् महापुराण
72.	म०भा०	महाभारत
73.	म०पु०	मत्स्य पुराणाङ्क (कल्याण)
74.	म०स्मृ०	मनुस्मृति
75.	म०पु० (II)	कल्याण मत्स्यपुराण (उत्तरार्ध)
76.	मा०हि०कोश	मानक हिन्दी कोश (चतुर्थ खण्ड)
77.	मार्क०पु०	मार्कण्डेय पुराण
78.	मा०पु०(प्र०)	मार्कण्डेय पुराण (प्रथम खण्ड)
79.	मी०प्र०	मीमांसा प्रमेय
80.	मी०द०	मीमांसा दर्शन
81.	यजु०सं०	यजुर्वेद संहिता
82.	या०स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
83.	रा०नि०	राजनीतिक निबन्ध
84.	रा०वि०सि०	राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
85.	रा०वि०इ०	राजनैतिक विचारों का इतिहास
86.	लि०पु०(I)	लिङ्ग पुराण (प्रथम खण्ड)
87.	लि०पु०	लिङ्ग पुराण
88.	व०पु०	वराह पुराण
89.	वाम०पु०	वामन पुराण
90.	वा०पु०	वायु पुराण
91.	वाचस्पत्यम् -	भाग (5)
92.	वा०पु०	वायु महापुराणम्
93.	वा०रा०	वाल्मीकि रामायण

॥ ॥

94.	विoपुo॥प्रo॥	विष्णु पुराण
95.	विoपुo॥द्विo॥	विष्णु पुराण ॥द्वितीय॥
96.	वेoसुo	वेदसुधा
97.	वेoराo	वेदकालीन राज्य व्यवस्था
98.	वेoसाoइo	वैदिक साहित्य और इतिहास
99.	वेoसाoसंoदo	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन
100.	स्टoएपिoपुराo	स्टडीज इन द एपिक्स एण्ड पुराण
101.	स्टoउपoपुo	स्टडीज इन द उपपुराणाज ॥भाग-1॥
102.	स्कoपुo	स्कान्द पुराण
103.	स्टoपुoरिo	स्टडीज इन द पुराणिक रिकार्ड्स
104.	संoशoकौo	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
105.	संoहिoकोo	संस्कृत हिन्दी कोश
106.	संoसाoराoभाo	संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना
107.	संoइंoडिoo	संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
108.	संoसंoइंo	स्टूडेन्ट संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
109.	सoचo	सम्राट चरितम्
110.	सिoकौo	सिद्धान्त कौमुदी
111.	शoमoनिo	शब्दस्तोम महानिधि
112.	शoकo	शब्दकल्पद्रुम ॥चतुर्थ भाग॥
113.	शoब्राo	शतपथ ब्राह्मण
114.	शुoनीo	शुक्रनीति
115.	हoचo	हर्षचरितम्
116.	हरिoपुoसांoअo	हरिवंश पुराणका सांस्कृतिक अध्ययन

117.	हि०स०	हिन्दू सभ्यता
118.	हि०इ०लि० (1)	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग-1
119.	हि०ध०	हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

(राष्ट्र और राष्ट्रिय भावना का प्रारम्भिक स्वरूप)

द्वितीय अध्याय

(वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र और राष्ट्रियभाव का प्रारम्भिक स्वरूप)

तृतीय अध्याय

§ प्रमुख पुराण और उनका संक्षिप्त परिचय §

चतुर्थ अध्याय

§ पुराणों में राष्ट्र और राष्ट्रियता §

पंचम अध्याय

(राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की परिकल्पना तथा निष्कर्ष)

राष्ट्र का प्रारम्भिक और अधुनातन रूप, राष्ट्रीयता की प्राचीन तथा अर्वाचीन परिकल्पना, पृथिवी का आदिकालिक महत्व, पृथिवी का मातृरूप, राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का समेकित स्वरूप , निष्कर्ष। 198-218

प्रथम अध्याय

(राष्ट्र और राष्ट्रिय भावना का प्रारम्भिक स्वरूप)

प्रथम अध्याय

(राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना का प्रारम्भिक स्वरूप)

राष्ट्र, राष्ट्रकोशकारों की दृष्टि से, राष्ट्र शब्द का विश्लेषण, राजनैतिक दृष्टि से राष्ट्र, विश्लेषण, राष्ट्रीय भावना का स्वरूप, राजा, राज्य, विश्लेषण , राजतंत्र, राजभक्ति, तथा राष्ट्र भक्ति, राष्ट्रीयभाव तथा पुराणकार, पुराणों में राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के प्रारम्भिक तत्व , विश्लेषण ।

****

प्रथम अध्याय

॥ राष्ट्र और राष्ट्रियभावना का प्रारम्भिक स्वरूप ॥

राष्ट्र :-

राष्ट्र और राष्ट्रिय शब्द के प्रयोग का कब किस अर्थ में प्रारम्भ हुआ इसका इदमित्थं उत्तर चाहे न दिया जा सके और न ही इस सम्बंध में प्रमाण जुटाए जा सकें किन्तु जैसे ही ये दोनों शब्द किसी विचारवान्-विद्वान के सामने आते हैं वैसे ही इनसे एक व्यापक ,भावपूर्ण अर्थ का अनुभव होने लगता है। संस्कृत भाषा के व्याकरण में सिद्धान्त कौमुदी में भ्वादिप्रकरण में राजृ दीप्तौ धातु पढ़ी गई है,जो दीप्ति अथवा शोभा के अर्थ में"राजते" क्रियानिर्मित करती है।[1] इसी धातु से "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" सूत्र से "ष्ट्रन्"प्रत्यय का योग करने पर राष्ट्र शब्द का निर्माण होता है जिसका सामान्य अर्थ धातु से सम्बंधित होने के कारण शोभित करने वाले किया जा सकता है।[2]

राष्ट्र: कोशकारों की दृष्टि से:-

कोशकार किसी भी शब्द का शाब्दिक अभिप्राय स्पष्ट करते हैं और उस शब्द के पर्यायार्थ देते हुए उनके अभिप्राय पर भी अपना दृष्टि-निक्षेप करते हैं। इस के लिए वे विविध प्रकार के प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यदि कोशकारों की दृष्टि से राष्ट्र शब्द का शाब्दिक अर्थ जानने का प्रयत्न किया जाए तो"वाचस्पत्यम्" में राष्ट्र शब्द का प्रथमदृष्ट्या जो अर्थ दिया गया है और उसके लिए जो शब्द प्रयुक्त किया गया है- वह है "जनपद" । इसके समर्थन में "गौडं राष्ट्रमनुत्तमम्" वाक्य उद्धृत कर गौडों के राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।[3] एक अन्य प्रसिद्ध कोशग्रन्थ शब्दकल्पद्रुम राष्ट्र शब्द के अर्थ को व्यापकता प्रदान करते हुए इसका अर्थ"विषय"करता है और फिर अपने द्वारा दिये गये "विषय"शब्द के

- -

1• सि0कौ0 ,पृ0 123

2• वही, पृ0 599

3• वही,पृ0 4807

पर्याय में "जनपद" शब्द उसी तरह से लिखा है, जैसे "वाचस्पत्यम्" में लिखा गया है। अपने कथन की प्रामाणिकता के लिए वहाँ पर मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका अर्थ है कि जो राजा तस्करों को नियंत्रित नहीं करता और प्रजा से राजकर (बलि) लेता है, उसका राष्ट्र बुरी तरह से क्षुभित हो जाता है और वह राजा भी स्वयं स्वर्ग से वंचित हो जाता है।[1]

संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ में राष्ट्र शब्द के पर्याय देते हुए राज्य, साम्राज्य, देश, मुल्क, प्रजा, जाति नेशन आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है।[2] जबकि वामन शिवराम आप्टे महोदय "दि स्टूडेन्ट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी" में राष्ट्र शब्द के पर्यायवाची शब्दों में ए किंगडम, रैल्म, इम्पायर (राष्ट्रदुर्गबलानि च) लिखते हैं। इसी प्रकार से आगे मनुस्मृति में जहाँ पर राष्ट्र शब्दों का प्रयोग किया गया है। उसका संकेत करते हैं।[3] इसके आगे वे डिस्ट्रिक्ट, टेरीटरी, कन्ट्री, रीजन आदि शब्द भी देते हैं और मनुस्मृति का सन्दर्भ भी। इसी तरह से द पीपुल, नेशन, सब्जेक्ट्स शब्द भी राष्ट्र शब्द के पर्याय में वहाँ पर उल्लिखित हैं।[4]

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मोनियर विलियम्स ने राष्ट्र शब्द के लिए राज्य की पाँच प्रकृतियों वाले (किंगडम) का उल्लेख किया है, इसके साथ ही उन्होंने रैल्म, इम्पायर, डोमिनियन, डिस्ट्रिक्ट, कन्ट्री, पीपुल और नेशन शब्दों का भी प्रयोग किया है।[5] इसी प्रकार से यदि हम अन्य अंग्रेजी के शब्दकोशों पर दृष्टिपात करें, तो हमें यह दिखाई देता है कि राष्ट्र के लिए जाति, राज्य, नेशन, स्टेट, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[6]

---

1. अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
   तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ।। वही, पृ० 158
2. वही, पृ० 977
3. वही, पृ० 469, म० स्मृ० 7/109, 110, 161
4. सं० इ० डि०, पृ० 469
5. सं० इ० डि० मो०, पृ० 879
6. भा० डि०, पृ० 542, 880

हिन्दी के कोशकारों ने भी राष्ट्र शब्द का अर्थ अपने कोशग्रंथों में दिया है। "वृहत् हिन्दी कोश में" राष्ट्रशब्द के पर्याय के रूप में देश, राज्य और जाति शब्द दिये गये हैं। "मानक हिन्दी कोश"में राज्य, देश किसी निश्चित और विशेष क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी भाषा और रीति-रिवाज एक से होते हैं, राष्ट्र शब्द के पर्याय के रूप में कहे गए हैं।

राष्ट्र शब्द का विश्लेषण:-

उपरिलिखित सभी परिभाषाओं पर यदि विचार किया जाए तो यह कहना संगत होगा कि वाचस्पत्यम् और शब्द कल्पद्रुम में राष्ट्र शब्द के जो अर्थ दिये गए हैं, उनसे जब "जनपद" का बोध कराया जाता है, तो यह एक सीमित और संकुचित अर्थ देता है, क्योंकि जनपद वर्तमान सैकले में एक जिले का बोधक शब्द बन गया है। और सम्भवत: श्री आप्टे और विलियम महोदय ने उसके इसी अर्थ को लेकर राष्ट्र का एक पर्याय डिस्ट्रिक्ट लिख दिया है। डिस्ट्रिक्ट और जनपद शब्द राष्ट्र के उस व्यापक और विशाल अर्थ को देने में पूरी तरह असफल है, जो अर्थ विषय, किंगडम, राज्य, इम्पायर, कन्ट्री आदि शब्दों से प्रकट होता है। हिन्दी कोशकारों ने अवश्य ही देश, राज्य और जाति आदि शब्दों से राष्ट्र की जो परिकल्पना की है, वह व्यापकता और विस्तीर्णता को व्यक्त करती है।

राजनैतिक दृष्टि से राष्ट्र:-

राजनीति शास्त्र की दृष्टि से राष्ट्र शब्द का अत्यधिक महत्व है और अनेक राजनैतिक विचारकों ने इस शब्द पर अनेकश: और विस्तार से विचार किया है। इस विचार क्रम में इन विद्वानों ने इस शब्द के पर्यायवाची शब्द न देकर इसके भाववाची अर्थ पर विचार किया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से जिन विद्वानों ने राष्ट्र शब्द पर विचार किया है, वे अपना यह मन्तव्य देते हैं कि यह शब्द "नेशन" शब्द का पर्यायवाची शब्द है जो मूल रूप से लैटिन भाषा के "नेट्स" शब्द से ही

विकसित हुआ है । इसका अर्थ ऐसी जाति अथवा जन्म से होता है जिसमें प्रजाति सम्बंधी समानता पाई जाती है।[1] इसलिए राजनैतिक विचारक राष्ट्र शब्द का अभिप्राय एक ऐसे "नेशन" अथवा मानव समूह से लेते हैं जो जन्म, जाति और प्रजाति की दृष्टि से परस्पर एकता की भावना से आबद्ध हो। एक अन्य विद्वान् यह लिखते हैं कि राष्ट्र ऐसे मनुष्यों का समूह है, जो कतिपय निश्चित समानताओं से परस्पर आबद्ध होने में अपने आपको सहज समझते हैं। ये समानताएँ इतनी सुदृढ़ और इतनी वास्तविक होती हैं कि इनसे जुड़कर वे लोग आपस में प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं। यदि उन्हें पृथक-पृथक किया जाए तो वे असन्तुष्ट होते हैं और वे उन लोगों के साथ रहना पसन्द नहीं करते हैं जो उन लोगों की समानताओं से कोई नाता नहीं रखते हैं।[2]

अन्य और विचारकों ने भी राष्ट्र की स्थिति के सम्बंध में यत्र-तत्र अपने विचार व्यक्त किये हैं और उन विचारों से भी राष्ट्र का एक विशेष स्वरूप प्रकट होता है। जैसे लार्ड रोबर्ट ब्राइस ने लिखा है कि राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है जिसने अपने आपको एक राजनैतिक संगठन के रूप में संगठित कर लिया है और जो स्वतंत्र होने की इच्छा करती है या कि स्वतंत्र है।[3] डॉ0 पुखराज जैन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त में लिखते हैं कि जनसमूह में व्याप्त उस भावना का नाम राष्ट्र है जो इस जनसमुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियंत्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।[4] इसी भाँति एक अन्य विद्वान्

1· ए0पी0आ0, दूसरा अध्याय, पृ0 44
2· दृष्टव्य, सं0 सा0रा0भा0, पृ0 6
3· इ0ब्रा0आ0, पृ0 33
4· वही, वि0बा0, पृ0 21

इस प्रकार अपने विचार व्यक्त करते हैं कि जब राष्ट्रीयता की भावना किसी एक जनसमूह को राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान कर देती है या उसे इस दिशा में प्रेरित करती है, तो वह एक राष्ट्र कहा जाता है।[1]

विश्लेषण :-

अब यदि राष्ट्र के सम्बंध में इन राजनीतिक विचारधाराओं का विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहें तो हम यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि कुछ विचारक जातीय एकता, सांस्कृतिक एकता, अध्यात्मिक एकता के साथ "सह" के परस्पर भावात्मक सम्बंध की पृष्ठभूमि पर राष्ट्र का आधार आधारित मानते हैं और इसी के साथ कुछ विचारक यह और जोड़ने का प्रयास करते हैं कि जातीय, सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के साथ उनमें राजनैतिक स्वतंत्रता की इच्छा है, और इस रूप में या तो वह समूह राजनैतिक रूप से स्वतंत्र हो अथवा राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रति उनमें इच्छा हो। सम्भवतः इसका कारण यह है कि विश्व में आज सर्वाधिक सम्मान और महत्व राजनैतिक स्वतंत्रता को है और ऐसी स्वतंत्रता किसी भी राष्ट्र के लिए गौरव का विषय है। इसलिए "राष्ट्र की परिभाषा की पूर्णता के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता आवश्यक-सी है।

राष्ट्रभावना का स्वरूप :-

शब्दस्तोम महानिधि में राष्ट्रीय शब्द की व्युत्पत्ति में केवल "राष्ट्रे-भव:" लिखा है।[2] इसका अर्थ केवल राष्ट्र में होने वाला कर सकते हैं। अन्य एक स्थान पर राष्ट्रीय शब्द का अभिप्राय दिया गया है- राजा अथवा किसी राज्य का शासक[3]। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ में राष्ट्रीय शब्द को स्वदेशाभिमान ,

---

1. आ०रा०वि०,पृ० 247
2. वही,पृ० 363
3. इ०सं०डि०,पृ० 526

स्वलोकाभिमान तथा स्वराष्ट्राभिमान के रूप में व्याख्यायित किया गया है।[1] इसी तरह से एक हिन्दी का शब्दकोश राष्ट्रिय शब्द के अनेक पर्याय देता है और यह लिखता है, इसका अर्थ है राष्ट्र का स्वामी, राष्ट्र से सम्बंधित, राष्ट्र के अंग अथवा सदस्य होने का भाव। इस सबका स्पष्टीकरण करते हुए वहाँ पर अंग्रेजी के "नेशनलिज्म" शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] इस रूप में राष्ट्रियभाव का जो अर्थ किया जा सकता है और विशेषकर कोशकारों की दृष्टि से, वह यह है कि जो राष्ट्र से सम्बंधित है तथा जिसे राष्ट्र के लिए गौरव पूर्ण रूप से व्यक्त किया जा सकता है, वह सभी राष्ट्रिय है और इसी से किसी को भी अपने राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान होता है। राष्ट्र के मूलभूत तत्व के रूप में जो राष्ट्र से सम्बंधित है, और राष्ट्र के लिए गौरव का आधार है, वह राष्ट्रिय है।

राजा :

दीप्त्यर्थक "राजृ" धातु से औणादिक कनिन् प्रत्यय के संयोग से राजा शब्द बनता है। जिसके पर्याय बाल मनोरमा में- " राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः दिये गये हैं।[3] इस रूप में जहाँ धातुगत अर्थ से प्रतीति शोभार्थक होती है, वहीं अन्य प्रभु, नृप, चन्द्र आदि से राजा शब्द के अन्य भावार्थ भी प्रकट होते हैं। प्रसिद्ध शब्दकोश वाचस्पत्यम् में जब राजा शब्द का अभिप्राय दिया जाता है तब वहाँ पर "रंजयति इति राजा" कहकर राजा के द्वारा प्रजा रंजन के प्रमुख स्वरूप को उद्घाटित किया जाता है।[4]

- -

1• ऋ०सं०हि०, 526

2• मा०हि०को० ,पृ० 506

3• हि०को०,पृ० 547

4• वही ,पृ० 4802

वैदिक वाङ्‌मय में यदि इस दृष्टि से दृष्टि निक्षेप किया जाए तो हमें वहाँ पर इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि वैदिक ऋषियों ने प्रारम्भ में ही यह अनुभव कर लिया था कि राजा के बिना न तो प्रजा की रक्षा होना सम्भव है, और न ही भारतीय संस्कृति की सुरक्षा की जा सकती है, यही कारण है कि वेद वाङ्मय में जहाँ कहीं पर भी राजा शब्द का उल्लेख किया गया है वहाँ पर उसके लिए विशिष्ट अर्थ के साथ-साथ उसको विशेष आदर भी दिया गया है। इस आदर से ही यह अनुभव होता है कि राजा की आवश्यकता अनिवार्य और अपरिहार्य थी।[1] शत्रु पर विजय पाना, राज्य में शांति स्थापित करना, प्रजा को भय-मुक्त रखना, राज्य में सर्वाङ्‌गीण विकास के लिए प्रयत्नशील रहना- राजा के कर्तव्य माने जाते हैं।

वैदिक समाज का अति प्रारम्भिक काल में, जिसका संकेत कुछ रूप से पुरुष सूक्त में दिया गया है, यह वर्णन आया है, ब्राह्मण ईश्वर के मुख से तथा "राजन्य" उसके बाहुओं से उत्पन्न हुए।[2] इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जैसे शरीर में शक्ति का केन्द्र और कार्य करने की सामर्थ्य भुजाओं में होती है, सम्भवत: वही शक्ति और सामर्थ्य "राजन्य" में {जो बाद में राजा माने गए} प्रतीक रूप में कही गई। इसका यह भी प्रमाण है कि ब्राह्मण में श्रेष्ठतम् ज्ञान की शक्ति निहित होने पर भी उसे राजन्य के रूप में कहीं प्रतिष्ठित नहीं किया गया। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का संकेत मिलता है। कि राजन्य आर्यों का वह वर्ग है जिसमें क्षात्रबल का प्राधान्य हो और जो युद्ध में अपने उस बल को प्रदर्शित करने की क्षमता रखता हो।[3] इस विवेचन से इतना तो माना ही जा सकता है कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र को राजपद का अधिकार प्राप्त नहीं था तथा इन तीनों वर्णों ने क्षात्रबल को भी धारण नहीं किया।

1· यजु· सं· 1/20
2· ऋ·वे· 12/90/10
3· वही 10/2/6/13; 6/5/1/13

राजा की अनिवार्यता और अपरिहार्य स्थिति का वर्णन करते हुए तथा उसके महत्व का रेखांकन करते हुए मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि राजा के बिना सब ओर से भय के कारण चलायमान इस सम्पूर्ण संसार की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने उसे बनाया है। इन्द्र,वायु,सूर्य ,वरुण,चन्द्रमा और कुबेर आठ लोकपालों के अंशों से राजाओं का निर्माण हुआ। यह राजा प्रभाव से अग्नि,वायु,सूर्य,चन्द्रमा धर्म,कुबेर ,वरुण का रूप होता है।[1]

यही कारण है कि वेद साहित्य में राजा के लिए अनेक पदों का व्यवहार हुआ है,जो उसके महत्व का रेखांकन करते हैं तथा तद्-तद् पदों के वैशिष्ट्य का भी संकेत करते हैं। वेदों में राजा के लिए राजा के अतिरिक्तसम्राट्,महाराज , स्वराट् जैसे पदों का अनेकशः व्यवहार है। इनमें से जो राजसूय यज्ञ विधिवत् सम्पादित कर लेते थे उनका राज्याभिषेक होता था और उन्हें राजा कहा जाता था। "राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा" जैसे पदों से यही संकेत मिलता है।[2] इसी भाँति यह वर्णन आता है कि जो सामान्य राजा होते थे, वे सम्राट् पद की प्राप्ति के अधिकारी नहीं होते थे। जिस राजा में इस पद के अनुरूप योग्यतायें और गुण होते थे, उन्हें ही सम्राट् का पद प्राप्त हो पाता था। इसके सन्दर्भ में संकेत यह है कि जो राजा वाजपेय यज्ञ का सम्पादन विधिपूर्वक कर लेता था, वही सम्राट् पद से सम्बोधित होने का अधिकारी होता था । कोई भी राजा जब तक वाजपेय यज्ञ सम्पन्न नहीं कर पाता था ,तब तक वह सम्राट् पद नहीं पा सकता था ।" सम्राट् वाजपेयेन"-

---

1. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत प्रभुः ।।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । सः कुबेरः ....।
वही,पृ0241-242

2. श०ब्रा० 8/4/3/9; 9/3/4/1।

जैसे संकेत यही दिशा निर्देश करते हैं कि सम्राट् वाजपेय यज्ञ की पूर्ति के पश्चात् ही राजा हो पाता था।[1]

महाराज पद के लिए कोई विशेष कार्य किये जाने का तो उल्लेख नहीं प्राप्त है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण में ही यह कथा है कि पहले इन्द्र को इन्द्र ही कहते थे/कि जब इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया तो उसे महेन्द्र कहा जाने लगा। यह उसी प्रकार से हुआ जैसे कोई एक राजा किसी अन्य प्रतापी राजा पर विजय प्राप्त करके महाराजा कहलाने का अधिकारी हो जाता है-"इन्द्रो वा पुरा वृत्रस्य वधाय वृत्रं हत्वा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्। इससे यह प्रतीत होता है जैसे किसी बड़े राजा पर विजय करने वालेको महाराज कहा जाता था।

स्वराट् पद की प्राप्ति का संकेत भी प्राचीन उल्लेखों में उपलब्ध है। इसके लिए यह संकेत है कि जो सर्वमेध यज्ञ कर लेता था उसे स्वाराज्याधिपत्य प्राप्त होता था। इसका फल यह था कि राजा अपनी आत्मा को अपनी प्रजा की आत्मा में अनुभव करने लगता था-" भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठतम्[------------।[2]
इस अर्थ में तो यह कहना भी संगत हो सकता है कि राजा एक प्रकार से राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना के साथ एकाकार ही होता था।

वेदोत्तर काल में भी राजा के सम्बंध में जो कहा गया है, वह भी उसके प्रजा-पालक या कि उसके प्रजारंजक रूप को ही प्रकट करता है। महाभारत महाकाव्य में यह कथन है कि वह राजा श्रेष्ठ है जिसके अधीन राज्य में उसकी प्रजा निर्भय होकर इस प्रकार विचरण करती है जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय होकर

---

1. वही 8/4/3/9
2. वही 17/3/3/4; 21/4/6/1

विपरण करता है।[1] इसी प्रकार इसी महाकाव्य में एक अन्य स्थान पर यह उद्धृत है कि जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपनी प्रिय वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है। उसी प्रकार राजा भी अपने अधीन प्रजा के कल्याण हेतु अपने हितकारी कार्यों का परित्याग करें और निरन्तर उसके कल्याण में संलग्न रहें।[2] विष्णु पुराण में भी ऐसा ही एक संकेत है जिसमें यह संकेतित है कि प्रजा को प्रसन्न करने के ही कारण वह राजा है।[3] इसी प्रकार अन्य पुराणों में राजा के लिए जो संकेत हैं वे भी उसके क्षात्रधर्म,क्षात्रबल और पृथ्वी की रक्षा के भाव के साथ-2 पृथिवी पर विजय प्राप्त करने के भाव के स्वर देते हैं और राष्ट्र के साथ उसके सामन्जस्य के भाव को व्यक्त करते हैं।[4]

राज्य :- वेद सृष्टि सृजन की प्रक्रिया का जो स्वरूप देते हैं,उसका एक ही संकेत यही है कि विराट् पुरुष में असंख्य सिर,असंख्य नेत्र ,असंख्य बाहु,असंख्य पग परि-कल्पित है।इसी तरह उसके मन से चन्द्रमा,नेत्र से सूर्य,कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति बतलाई गई है।[5] यदि इसी तरह से तत्कालीन समाज का रूप देखा जाए तो उस विराट के मुख से ब्राह्मण,बाहु से राजन्य,जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[6] इसी प्रकार से एक अन्य वर्णन विराट से ही

1• म०भा० शांति पर्व 33/57

2• वही 45/56

3• पित्रापरंजितास्तस्य प्रजास्तेनानुरंजिताः।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजेत्यभाषत।।
वही,पृ० 149

4• वाम•पु•,पृ०156; वा•पु•,पृ० 157

5• ऋ०वे०13/90/10;यजु० सं० 12/31

6• वही 12/90/10; यजु० सं० 11/33

राज्य के विविध अङ्गों का वर्णन इसी तरह से करता है कि विराट की पीठ भू-भाग है, उसका उदर ,उसकी ग्रीवा ,उसकी कटि ,उसकी जंघा, घुटने और गट्टे उसकी प्रजा है। उसका सिर कोश है, मुख,केश, दाढ़ी-मूँछ दीप्ति अथवा प्रताप है। उसका प्राण राजा है।[1] यह वेद का प्रारम्भिक रूप सृष्टि के प्रसार और विस्तार का है जिसे हम प्रारम्भिककालीन राज्य भी समझ सकते हैं।

राज्य के तात्विक स्वरूप का विवेचन जिन विद्वानों और विचारकों ने किया है ,उनका यह अभिप्राय है कि तब राज्य के चार तत्व स्वीकार किये गए थे । ये तत्व थे -ब्रह्म ,क्षत्र, विश् और राष्ट्र।[2] इनमें से ब्रह्मबल को बुद्धिबल के रूप में स्वीकार किया था और यह बल विशिष्ट बल था। इसके द्वारा समस्त प्राणिमात्र का कल्याण प्रशस्त होता था और यह बल मनुष्य के शांतिमय जीवन में उसके परम ध्येय की प्राप्ति में सहायक होता था।[3] ब्रह्मबल की भाँति ही समाज में तब क्षत्रबल भी महत्वपूर्ण बल था । यह बल जिनमें निहित था वह वर्ग था राजन्य वर्ग। मानव समाज में क्षत्रबल धारण करने वाले राजन्य कहे जाते थे।[4]

इन दोनों बलों के साथ-2 एक और बल था जिसे विश् कहा गया है। यह राष्ट्र के कृषिबल के रूप में स्थापित था और कृषि तथा व्यवसाय से यह राष्ट्र की समुन्नति और उसके अभिवर्धन में सहायक था। इसी दृष्टि से सम्भवतः, इसका वर्णन राष्ट्र के साथ किया गया है।[5] जहाँ तक राष्ट्र के सम्बंध में उल्लेखों का प्रश्न

---

1. यजु०सं०5/20; यजु०सं० 18/20
2. वै०रा०,पृ० 56
3. वही,पृ० 57
4. यजु०सं० 1/20
5. ऋग्वेद 1/124/10; यजु०सं० 8/20

है, वहाँ ऋग्वेद में ही यह कहा गया है कि हे सोम! जिस भूभाग में आनन्द,आमोद-प्रमोद आदि हैं और जहाँ सारी कामनायें तृप्त हो जाती हैं। वहाँ मेरा वास हो। जिस लोक में सूर्यदेव राजा हैं, जो सुख का द्वार है और जहाँ जल भरी नदियाँ निरन्तर बहती रहती हैं, उसी लोक में हमारा वास हो।[1] इसी प्रकार राष्ट्र के सन्दर्भ में यजुर्वेद की एक कल्पना है कि हमारे राष्ट्र में तेजशील विप्र,कुशल शूर-वीर, महारथी राजन्य, दुग्धा गौयें, सभ्य युवक ,सर्वगुण सम्पन्न स्त्रियाँ, अपेक्षित वर्षा करने वाले मेघ,अन्न परिपूरित सस्य उत्पन्न हों और हम वहाँ बने रहें।[2]

बृहदारण्यकोपनिषद् में इसी तरह की एक कथा है जिसमें यह बताया गया है कि आरम्भ में वह ब्रह्म अद्वितीय ही था। वह अकेला क्षत्रियादिपालनकर्ता न होने से विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ न हो सका। तब उसने क्षत्र प्रशस्त रूप की रचना की । अब सम्पत्ति का अर्जन न हो पाने से उसने वैश्य जाति की तथा सेवक न होने से शूद्र की रचना की।[3]यही औपनिषदिक राज्य की कल्पना का प्रारम्भिक स्वरूप हो सकता है।

भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों ने राज्य की जो कल्पना विचारपूर्वक और तर्क पूर्वक की तदनुसार राज्य के सात अंगों का परिकल्पन किया गया। ये सातों अंग हैं- राजा, अमात्य, कोश, दण्ड, जनपद और पुर[4] इसी भाँति राजनीति

---

1. ऋ॰वे॰,7/113/9 ; 8/113/9
2. वही 22/22
3. बृ॰उ॰,पृ॰ 281-282
4. म॰भा॰ अनुशासन पर्व 65/69

और अर्थशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् आचार्य कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियों के रूप में स्वामी,अमात्य,जनपद,दुर्ग,कोश,दण्ड, [illegible] और मित्रों की गणना की है।[1] इसी तरह से एक अन्य नीतिकार इसमें सामान्य परिवर्तन के साथ राज्य के सात अंगों को स्वीकार करते हैं।[2]

"राज्ञोभाव: कर्म वा"- जैसे व्युत्पत्ति देकर शब्द शास्त्री राज्य को राजा के भाव अथवा राजा के कार्य को राज्य कहते हैं।[3]

अन्यत्र स्थानों में राज्य के पर्याय के रूप में नीवृत ,मण्डल,जनपद, देश, प्रदेशविषय और राष्ट्र को दिया गया है। कहीं-कहीं शासन,एक राजा अथवा उसकी पद्धति आदि भी लिया गया है।[4] मानक हिन्दी कोष में आधुनिक दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुए राज्य शब्द के अर्थ को व्याख्यात करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे वहाँ पर यह लिखा गया है कि राज्य का अभिप्राय होता है किसी राजा का काम ,शासन,वह क्षेत्र जिस पर किसी राजा का शासन हो अथवा निश्चित सीमाओं वाला वह भूखण्ड जिसकी प्रभुता उसके निवासियों में ही निहित हो।[5]

पाश्चात्य विचारकों ने भी राज्य के सम्बंध में अनेक प्रकार से विचार किया है और अपने -2 दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषायें दी हैं । एक विचारक

- -

1• स्वाम्यमात्य जनपददुर्गकोशदण्ड मित्राणि प्रकृतय:। वही,पृ0 535

2• शु0नी0 61/1

3• सं0श0कौ0,पृ0 975; का0 6/4/168

4• श0क0,पृ0130;बृ0हि0को0, पृ0 1149

5• वही,पृ0 498

कहते हैं कि जहाँ कुछ लोग निश्चित भूभाग पर निवास करते हुए एक सरकार के अधीन संगठित हैं और उनकी यह सरकार आन्तरिक मामलों में अपनी सम्प्रभुता प्रकट करती हो, वह बाह्य मामलों में किन्हीं दूसरी सरकारों से स्वतन्त्र हो।[1] एक अन्य व्याख्या के अनुसार यह कहा जाता है कि अधिक या कम संख्या वाले व्यक्तियों के उस समुदाय को राज्य कहते हैं जो किसी निश्चित भूभाग पर स्थायी निवास कर रहा हो, बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिसकी एक ऐसी सुगठित सरकार हो जिसके आदेशों का अनुपालन उसके सभी निवासी स्वाभाविक रूप से करते हों।[2]

प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक प्लेटो का इस सम्बन्ध में यह मन्तव्य है कि राज्य मानव मस्तिष्क का ही व्यापक रूप है। राज्य बलूत के वृक्ष अथवा चट्टानों से नहीं निकलते, वरन् वे उन लोगों के मस्तिष्क और चरित्र का परिणाम होते हैं, जो उनमें निवास करते हैं। अरस्तू का यह मानना है कि राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है। राज्य मानव के जीवन की भावनात्मक अभिव्यञ्जना है और इससे अलग रहकर व्यक्ति अपने जीवन की लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। राज्य परिवार का ही वृहत रूप होने के कारण यह भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि परिवार। रूसो ने अपना यह विचार व्यक्त किया है कि राज्य सामाजिक समझौते द्वारा उत्पन्न उस राजनीतिक व्यवस्था का नाम है, जिसमें सम्प्रभुता का निवास होता है तथा सामान्य इच्छा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है।

1• प्रि० पा० सा०, पृ० 7

2• पा० सा० गव०, पृ० 52

3• पु० रा० वि०, पृ० 9; 52; 196

विश्लेषण

इस प्रकार से प्राचीन समय से राज्य के सम्बन्ध में जिस अवधारणा का उद्गम और विकास हुआ, वह धीरे-2 एकात्मक राजसत्ता के कार्य के सप्तांगों से निकलकर धीरे- धीरे एक ऐसे स्वरूप को प्राप्त हुई जो स्वरूप एक ऐसे भूभाग का अर्थ देने में सक्षम हुआ जिस भूभाग में अपनी स्वतन्त्र सत्ता निहित हो और जो परस्पर सहमति के आधार पर एकीभूत समूह के रूप में अवस्थित हो।

राज्य एवं राष्ट्र

यद्यपि सामान्य भाषा और भाव को लेकर कोशकार, विशेषत: प्राचीन कोशकार राष्ट्र के लिए राज्य या कि जनपद शब्द का प्रयोग करते हुए देखे जा सकते हैं और उससे यह प्रतीत हो सकता है कि राष्ट्र का स्वरूप व्यापक न होकर संकुचित और राज्य की तरह एक छोटा रूप होता है किन्तु ऐसा विचार करना इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि राष्ट्र और राज्य में पर्याप्त अन्तर है। संस्कृत और हिन्दी के शब्दकोश, जिनके उद्धरण इसी शोध प्रबन्ध के पूर्व में दिए जा चुके हैं, राष्ट्र के लिए दिए जाने वाले पर्यायवाची शब्दों में एक साथ प्रजा, जाति, साम्राज्य आदि का प्रयोग करते हैं, पर बाद में इन पर्यायवाचियों का भावार्थ बहुत बदल गया और राष्ट्र तथा राज्य में पर्याप्त अन्तर देखा जाने लगा।

यह अन्तर आधुनिक विचारकों के उस दृष्टि कोण से व्यक्त होकर आता है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि इसका अर्थ एक ऐसी जाति अथवा जन्म से होता है जिसमें प्रजाति सम्बन्धी समानता पाई जाती है। इसलिए राष्ट्र का अभिप्राय उस भावभूमि से लिया जाता है जिसमें कतिपय समानताओं से परस्पर आबद्ध होने में अपने आपको सहज समझते हैं।[1]

1- फ०.प०.आ०, दूसरा अध्याय, पृ० 414; इनटरनेशनल संस्कृत रा०भा०, पृ० 6

इसके विपरीत राज्य का एक सीमित स्वरूप विचारक स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि जहाँ कुछ लोग निश्चित भूभाग पर निवास करते हुए एक सरकार के अधीन संगठित हों और उनकी वह सरकार आन्तरिक मामलों में अपनी संप्रभुता प्रकट करती हो।[1] एक सम-सामयिक लेखक ने राष्ट्र और राज्य के अन्तर को रेखांकित करते हुए अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि राष्ट्र राजनैतिक सम्प्रभुता प्राप्त करने की भावना का प्रतीक है और इस तरह वह एक भावना है जबकि राज्य एक संस्था। उनका यह भी मानना है कि राष्ट्र स्वचालित मनः वेग है जबकि राज्य सरकार द्वारा संचालित संगठन है। वे यहाँ तक निरूपित करते हैं कि राष्ट्र के लिए भूभाग परम आवश्यक है।[2] इस रूप में राष्ट्र भावात्मक संविग है और राज्य उसका व्यावहारिक स्वरूप।

राजतन्त्र

तन्त्र शब्द का अर्थ कहीं-कहीं सीधे रूप में "शासन करना" किया गया है।[3] इसमें जब राज शब्द मिलाकर "राजतन्त्र" कर देते हैं तो उसका सीधा सा अभिप्राय हो जाता है राजा का तन्त्र अथवा राजा का शासन।[4] प्राचीन भारतीय समाज का यदि इस दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो हम यह देखेंगे कि वैदिक और वेदोत्तर काल में एक प्रकार से इस देश में राजतन्त्र ही प्रतिष्ठित था। पर, यह राजतन्त्र ऐसा नहीं था कि राजा को सर्वतोभावेन सर्वाधिकार प्राप्त था अथवा उसकी अयोग्यता या कि प्रशासन अक्षमता क्षम्य थी। तब जो राजा बनता था

---

1. पिं० भा० सा०, पृ०7
2. सं० सा० रा० भा०, पृ० 39-40
3. सं० श० को०, पृ० 487; सं० हि० को०, पृ०420
4. सं० सा० रा० भा०, पृ० 37

उसे अपने अनृत स्वभाव का परित्याग कर सत्य स्वभाव को प्राप्त करना होता था। यजुर्वेद में एक ऐसा ही मन्त्र है और जिसकी व्याख्या में भाष्यकार उव्वट ने लिखा है-"अहं यजमानो 5 स्मादनृतान्मनुष्यजन्मन उद्‌गत्य सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि।"[1] एक अन्य स्थान पर यह प्रसंग आया है कि यज्ञवेदी पर बैठे हुए यजमान को पुरोहित ब्रह्मा, सविता, वरुण, इन्द्र और रुद्र बना देता है। ऐसे सन्दर्भ में पुरोहित कहता है- हे राजन्। तू ब्रह्मा है, तू सविता है, तू वरुण है, तू इन्द्र है, तू रुद्र है।[2]

इसी भाँति एक प्रसंग इस प्रकार का है जिसके अनुसार यह वर्णन आया है कि राज्याभिषेक होने के पहले तक प्रस्तावित राजा साधारण पुरुष ही होता है। प्रस्तावित राजा और अन्य लोगों में राजपद पाने से पूर्व कोई विशेष अन्तर नहीं होता। किन्तु राजपद पर समारूढ़ हो जाने के बाद वही साधारण पुरुष देवत्व को प्राप्त कर लेता है तब वह यज्ञ में बैठा हुआ होता तथा विष्णु दोनों का रूप एक साथ धारण कर लेता है।[3]

वैदिक सन्दर्भों में लोक कल्याण के लिए ब्रह्म और क्षत्र के महत्व की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। दोनों पारस्परिक सहयोग द्वारा मनुष्य एवं उसके समाज का कल्याण करने में सतत् व्यस्त रहते हैं। ब्रह्म समाज में सुख और शान्ति के लिए व्यवस्था प्रस्तुत करता था और क्षत्र उस समय उस व्यवस्था को कार्यरूप में परिणत कर देने के लिए उद्यत होता था। यजुर्वेद एक ऐसा संकेत देता है. कि वह लोक पुण्यवान् है जहाँ ब्रह्म और क्षत्र में परस्पर प्रीति रहती है और दोनों परस्पर सहयोग से रहते हैं; एक दूसरे के पूरक बन कर विचरण करते हैं।[4]

1• वही 5/1

2• वही 28110

3• श0 ब्रा0 17/1/2/ 3

4• वही 25/20

पर ऐसा राजा न तो स्वेच्छाचारी हो सकता था और न ही वह पूर्ण स्वतन्त्र था। उसकी नियुक्ति में जहाँ एक ओर ब्राह्मण का आशीष आधार होता था, वहीं दूसरी ओर उसकी नियुक्ति समिति से भी अनुमोदित होती थी। अथर्ववेद में एक प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि समिति राजा की नियुक्ति करती है। इसी के साथ एक उपमा देते हुए वर्णन है कि सभी को कम्पित कर देने वाले क्षत्रिय को मनुष्य उसी प्रकार अपना राजा बना लेते हैं जिस प्रकार तारागण चन्द्रमा को अपना राजा बनाते हैं।[1]

इससे यह कहना संगत होता है कि क्षत्रिय को राजपद पर अभिषिक्त करने के बाद और उसके पास सभी अधिकार सुरक्षित होने पर भी तब ऐसा राजतन्त्र नहीं था, जो स्वेच्छाचार की सीमा तक जा सकता हो अथवा जिसका उद्देश्य प्रजानुरंजन के अतिरिक्त केवल स्वानुरंजन तक सीमित हो। ऐसा प्रजानुरंजक और प्रजा- चयनित तब का राजतन्त्र प्रमुख रूप से दिखाई देता है।

वेदोत्तरकालीन समाज में जिस प्रकार का राजतन्त्र दिखाई देता है उसमें भी राजा के दिव्य गुणों और उसके द्वारा किए जाने वाले प्रजारंजन के कार्यों को ही प्रमुखता प्रदान की गई है। राजा स्वतन्त्र आचरण करने के लिए निरंकुश न हो इस निमित्त स्मृतियाँ यह विधान करती हैं कि राजा कोई भी निर्णय करने के पूर्व मंत्रिपरिषद् के साथ विचार-विमर्श अवश्य कर लेवे । मनु इसलिए विधान करते हैं कि सभी कार्यों में उन मंत्रियों के अभिप्राय को पृथक्-पृथक् जानकर जिसमें हित हो उस कार्य को करे।[2] अन्य स्मृतिकार भी इसी से मिलता जुलता अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं।[3]

1• अ0 वे0 3/88/5; 1/128/6

2• तेषां त्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
   समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः।। म0स्मृ: पृ 25।

3• या0 स्मृ0 1/311

अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य कौटिल्य ने यह प्रतिपादित किया है कि अत्यावश्यक कार्य आ जाने पर राजा मन्त्रिपरिषद् का आयोजन कर उससे परामर्श अवश्य करे। उसमें से वह समर्थित तथा शीघ्र ही कार्य सिद्धि कर देने वाली राय के अनुसार कार्य सम्पादन करे।[1]

और इस प्रकार का यह प्राचीन राजतन्त्र पाश्चात्य विचारकों के उस राजतन्त्र की समता में श्रेष्ठ कहा जा सकता है जहाँ प्लेटो और कन्फ्यूशियस यह लिखते हैं कि जहाँ राजा सद्गुणी है, वहाँ कानून अनावश्यक हैं और जहाँ राजा सद्गुणी नहीं है, वहाँ कानून निरर्थक हैं।[2]

राजभक्ति तथा राष्ट्र भक्ति

राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व यह विचार कर लेना संगत होगा कि प्राचीन समय में राजा किन निष्ठाओं से होकर प्रजा का पालन करता था और राष्ट्र के प्रति उसका दृष्टिकोण किस प्रकार का होता था। यदि राजा स्व सेवि न होकर राष्ट्र सेवि होता है तो फिर प्रकारान्तर से यह भी कहना संगत हो सकता है कि राजभक्ति भी एक प्रकार के राष्ट्रभक्ति ही है, क्यों कि राजा एक व्यक्ति का प्रतीत न होकर राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है।

1· आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।
तत्र यद् भूयिष्ठा: कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात्।। कौ० अर्थ; पृ० 58

2· पृ० रा० वि०, पृ० 29,30

प्राचीन समाज में जब राजा के नियुक्ति की जाती थी अथवा प्रजा द्वारा उसे स्वीकार किया जाता था तब यह स्पष्ट कहा जाता था कि राजन्! ब्राह्मणों ने यह पृथिवी तुझे भोग करने के लिए नहीं दी है। ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त इस पृथिवी की हिंसा न करना।[1] और इसी स्वभाव के कारण उसे प्रजा कहा जाता था। यजुर्वेद में एक प्रसंग इस प्रकार का उद्धृत करना संगत होगा, जिसमें राज्याभिषेक के समय एकत्र जनसमूह के सामने पुरोहित स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित करता था कि सभी अभिषिक्त यह क्षत्रिय राजा प्रजा का राजा हुआ।[2] इसी प्रकार से अथर्ववेद के एक प्रसंग में यह वर्णित करने का प्रयत्न हुआ है कि हे राजन्! सम्पूर्ण प्रजा तेरी कामना करे। तू राष्ट्र से कभी भ्रष्ट न हो।[3] यजुर्वेद में ही एक स्थल पर इस प्रकार का संकेत दिया गया है जिसके अनुसार यह व्यवस्था दी गई है कि राजन्! यह राष्ट्र तुझे दिया गया है। हम तुझे कृषि के लिए, सुख - समृद्धि आदि के लिए प्रजा के पोषण के लिए और सार्वजनिक कल्याण के हेतु इस राज्य के राजपद के लिए अभिषिक्त कर रहे हैं। इसी भाँति यह भी कहा गया है कि हे अग्निरूप राजन्! तू हम प्रजाओं के लिए मंगलकारी होकर इस राष्ट्र में रहने वाली प्रजा का कल्याण करके अपने राजासन पर आसीन हो और इसके पश्चात् राजधर्म में रत हो।[4]

---

1. अ० वे० 1/18/5
2. वही 40/9
3. वही 1/87/6
4. वही 22/9 ; 17/12

यही नहीं राज्यासीन होने के पश्चात् राजा भी अपनी सम्पूर्ण निष्ठा प्रजा के प्रति रखता था। एक स्थान पर राजा इसी भाव से अभिभूत होकर कहता है कि यदि मैं तेरे [प्रजा के प्रति] प्रति द्रोह करूँ तो जन्म से मृत्युकाल तक की अवधि में जो भी पुण्यकार्य मेरे द्वारा हुए हों, मेरा जीवन और मेरा स्वर्ग नष्ट हो जाए।[1] महाभारत के शान्ति पर्व में भी ऐसा ही कथन पृथु के द्वारा किया गया है कि मैं इस भूमि को ब्रह्म जानकर सदैव इसकी मन, वचन और कर्म से रक्षा करूँगा। दण्डनीति के अनुरूप जो कर्म बताए गए हैं निर्भय होकर उनका पालन करूँगा और कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं बनूँगा।[2]

राजशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी राजा के लिए ऐसे आदर्श जीवन का विधान बताया गया है, जिसमें वह बलवान, धार्मिक, सत्यवादी, कृतज्ञ, उच्चादर्शयुक्त, उत्साही, शीघ्र कार्य करने वाला, दृढ़निश्चयी, विद्याव्यसनी हो। इसके अतिरिक्त उसकी बुद्धि शास्त्र सुनने के लिए उत्कण्ठित हो और तर्क-वितर्क के द्वारा तत्त्व का ज्ञान करने में निपुण हो।[3] कौटिल्य वस्तुतः राजा को स्वतन्त्र रूप से तो कुछ मानते ही नहीं हैं। वह तो प्रजा के अभीष्ट की व्यवस्था करने वाला एक व्यवस्थापक मात्र है। प्रजा के कुशल- क्षेम के लिए किन बातों और किन-किन साधनों की आवश्यकता है, इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा के ऊपर है।[4]

1• यां च रात्रिं जायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तलोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि द्रुह्यासमिति। ऐ० ब्रा० 15/4/8

2• वही 106-7/59

3• वही, पृ० 23-24

4• प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रिये हितम्।। वही, पृ० 77

इस प्रकार से इस अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पृथिवी और प्रणा जो किसी भी राष्ट्र के प्रतीक कहे जा सकते हैं, जब तक राजा के लिए ध्येय और वरेण्य रहते हैं तब तक राजा को राष्ट्र के तत्वों में समाहित कर लेना संगत कहा जा सकता है। इस रूप में हम तद्-तद् आचार्यों के उस प्रतिपादन को भी स्मरण कर सकते हैं जिसमें राष्ट्र की प्रकृतियाँ अथवा अङ्गों के रूप में स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र को गिनाया गया है।[1] ये सभी मिल कर ही एक प्रकार से राष्ट्र के प्रतिबोधक हो सकते हैं और इनमें स्वामी के रूप में जब राजा की गणना है, तो फिर राजा भी राष्ट्र का प्रतिनिधि अथवा अंश माना ही जा सकता है।

और इस क्रम में जब हम देखते हैं तो हमें वैदिक और वेदोत्तर साहित्य के अनेक ग्रन्थों में यह दृष्टिगत होता है जिसके माध्यम से यह कहा जाता है कि राजा का द्रोह श्रेयस्कर नहीं है। यजुर्वेद संहिता में एक स्थान पर यह वर्णन आया है कि हे शत्रु विजेता राजन्! हम लोग तेरे विरुद्ध आचरण न करें। हम लोगों में जो अन्यथाचरण करने वाले हैं, हम उन्हें नष्ट कर रहे हैं।[2] एक अन्य सन्दर्भ में इसी तरह के भाव वाले मन्त्र का यह अभिप्राय है कि राजन्! तू क्षत्रबल का आधार है। इसलिए किसी को भी तेरी हिंसा नहीं करनी चाहिए।[3]

---

1. कौ0 अर्थ0, पृ0 535
2. वही, 22/10
3. वही, 1/20

विश्लेषण:-

हम किसी न किसी रूप में यह कह सकते हैं कि राजा का विरोध न करने का संकेत ही यह प्रकट करता है कि राजा के प्रति निष्ठा रखी जाए और इस निष्ठा को ही राजभक्ति समझ लिया जाए। जब राजा राष्ट्र का एक अङ्ग है और उसके प्रति भक्तिभाव का संकेत किया जाता है तो उसी माध्यम से यह भी अनुभव किया जा सकता है कि एक प्रकार से यह राष्ट्रभक्ति भी कही जा सकती है। हाँ, यह अवश्य ध्यान में रखना होगा कि किसी भी प्रकार की राजभक्ति तभी तक राष्ट्रभक्ति है जब तक राजा के जीवन का उद्देश्य प्रजानुरंजन और राष्ट्रीय विकास का ध्येय वर्तमान है। सम्भवत: इसी विचार धारा के अनुरूप हम बृहत हिन्दी कोश और मानक हिन्दी कोशों के उन सन्दर्भों को ले सकते हैं जिनसे यह संकेतित किया गया है कि राजभक्ति का अर्थ केवल किसी राजा विशेष की भक्ति मात्र नहीं है अपितु वह न केवल अपने राजा के प्रति वरन् उसके राज्य और अपने देश के प्रति भी सेवा, निष्ठा तथा प्रेम का भाव होना चाहिए।[1] और इस तरह से राजभक्ति को राष्ट्रभक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संयुक्त करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

1. वही, पृ0 1147, 495

राष्ट्रभाव तथा पुराणकार

संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक काल में वैदिक वाङ्मय का अत्यधिक महत्व निरूपित किया जाता है। इस महत्व को सभी लोग प्राय: इस हेतु से स्वीकार करते हैं क्योंकि इस साहित्य को इस देश की वैचारिक परम्परा का आदि स्रोत माना जाता है। धर्म, दर्शन, नीति, आचार, व्यवहार, राजा, प्रजा, राज्य और राष्ट्र आदि चाहे जो विषय हों, सभी के सन्दर्भ तथा अन्य सन्दर्भ में भी, जो वेद साहित्य में कहा गया है, वह हमारी बाद की परम्परा के साथ-साथ प्रामाणिक रहा है। और आज भी वह प्रामाणिक है।

और इसी तरह जैसे वैदिक साहित्य ने हमारे जीवन और जगत के सभी विषयों का स्पर्श किया है तथा उनका वर्णन किया है, उसी तरह से हमारी पौराणिक परम्परा भी हमारे लिए वरेण्य और ग्रहण करने योग्य है, विशेषकर जब यह कहा जाता है कि इतिहास भूत पुराणों से वैदिक उपबृंहण किया जाता है तब तो पुराणों का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। पुराणों ने जिस प्रकार से भारतीय विद्याओं और परम्पराओं के साथ ज्ञान को सुरक्षित रखा है, उससे पुराणों को विश्वकोष के रूप में कहा जाता है, भारतीय समाज, विशेषत: ईसवीय की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर आज तक के काल में पुराण सम्मत धार्मिक मान्यताओं से अनुप्राणित रहा है, इससे पौराणिक साहित्य और इस साहित्य में अन्तर्निहित मूल्यों एवम् मान्यताओं का बोध होता है।

- -

इन विषयों के साथ-साथ पुराणों में राष्ट्र की व्यापक और विस्तृत भावभूमि के रूप में इसकी भौगोलिक सीमाओं का वर्णन किया गया है, उसके प्रति मानवीयकरण का स्वरूप, भारत की प्राकृतिक सम्पदा पर्वतों, वनों, सरिताओं आदि का वर्णन किया गया है, जैसे कि पुराणकार जम्बूद्वीप के वर्णन में स्पष्टत: अपनी भूमि का वर्णन आदर और प्रेमभाव के साथ करता है।[1]

भारतभूमि के वर्णन के साथ-साथ वे पर्वतों तथा नदियों का वर्णन करते हैं। तो उनका मन अत्यधिक रमता है। इस मन-रमण से यह प्रतीति होती है कि पुराणकारों के मन में उनके प्रति कैसा अनूठा आकर्षण है। उनके द्वारा वर्णित उन वनों की शोभा देखते ही बनती है, अनुभव करते ही बनती है जिनमें भाँति-भाँति के वृक्ष उनपर फूल रहे फूल तथा उन फूलों पर कलरव करने वाले पक्षियों का वर्णन देखने को मिलता है। पर्वत, नदियों और सरोवरों के पास, उनकी उपत्यकाओं में जो वन हैं उनमें कहीं-कहीं देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व आदि विचरण कर रहे हैं और कहीं-कहीं सिद्ध तथा अप्सराएं भ्रमण कर रही हैं।[2]

- -

1. श्रुणुध्व मनुजादीनां धर्मास्तु क्षणदाचर। ये वसन्ति महीपृष्ठे नरा द्वीपेषु सप्तसु।।
योजनानां प्रमाणेन पञ्चाशत्कोटिरायता। जलोपरि महीयं हि नौरिवास्ते सरिज्जले।।
तस्योपरि च देवेशो ब्रह्मा शैलेन्द्रमुत्तमम्।...............................।।
कर्णिकाकारमत्युच्चं स्थापयामास सत्तम:। स चेमां निर्ममे पुण्यां प्रजां देवश्चतुर्दिशम्।।
स्थानानि द्वीपसंज्ञानि कृतवांश्च प्रजापति:। तत्र मध्ये च कृतवाञ्जम्बूद्वीपमिति श्रुतम्।।
तल्लक्षं योजनानां च प्रमाणेन निगद्यते। ततो जलनिधि: क्षारो बाह्यतो द्विगुण: स्थित:।।
वाम० पु०, पृ० 23

2. देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगै:। सिद्धाप्सरोगणैश्चैव सेवितानि ततस्तत:।
मनोहराणि चत्वारि देवाक्रीडनकान्यथ। चतुर्दिशमुदाराणि नाम्ना श्रुणु तानि मे।
वा० पु०, पृ० 54

इतना ही नहीं, पुराणकार राष्ट्र के निवासीजनों के संस्कारों और आचरणों पर भी अपना मन्तव्य समय-समय पर प्रकट करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि राष्ट्र का राष्ट्रिक इस प्रकार के निष्ठावाले जीवन से जीवित रहे जिससे वह पूर्ण और सात्विक मनुष्य बनने के साथ-साथ अपने राष्ट्र के प्रति सात्विक निष्ठा रख सके। एक पुराण में इसी दृष्टि से मनुष्य के लिए शौच तथा आचार का विधान बताते हुए किस प्रकार का आचरण शिष्य को करना चाहिए और अपने गुरु के प्रति किस प्रकार के विनम्र भावों से अभिभूत होना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है।[1]

इसी प्रकार से हम वैदिक परम्परा से लेकर पुराण परम्परा तक यह एक सुखदायी स्थिति देखते हैं जिसके अनुसार हमारे प्राचीन ऋषि केवल अपने राष्ट्र अथवा किसी विशेष राष्ट्र की मंगल कामना न करके पूरे विश्व की या कि सम्पूर्ण चराचर की मंगलकामना में निरत दिखाई देते हैं, इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए वेद कहता है कि हम सभी-सभी के लिए अपने-अपने कानों से मङ्गलवाणी सुनें, अपने-अपने नेत्रों से मङ्गलकारक दृश्यों का अवलोकन करें। यह सभी के लिए समान रूप से होवे।[2] पुराण भी वेद की इसी अवधारणा को यथावत स्वीकार करते हैं और सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए यह कामना करते हैं कि सभी निरोग रहें, कोई भी दुखी न होवे।[3] और इस प्रकार से राष्ट्र तथा राष्ट्रिय अङ्गों के प्रति पुराणों का अभिप्राय हम देख सकते हैं तथा यह कह सकते हैं कि पुराणों में राष्ट्रिभाव का पल्लवन पर्याप्त रूप से हुआ है।

---

1. एवं दण्डादिभिर्युक्तः शौचाचार समन्वितः। आहूतोऽध्ययनं कुर्यात् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्सन्ध्याचार समन्वितः। आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः।।

प्रयुञ्जीत सदा वाचं मधुरां हितभाषिणीम्। गन्धमाल्यं रसं भव्यं शुक्लं प्राणिविहिंसनम्।।

कू० पु०, पृ० 107-108

2. यजु० सं० 25/21

3. भा० पु० वे० 3/2/35/14

पुराणों में राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के प्रारम्भिक तत्व

पुराण इस देश की एक ऐसी धरोहर हैं जिनसे यहाँ का समाज लौकिक एवम् पारलौकिक जीवन दर्शन का आलोक प्राप्त करता रहा है और अभी भी किसी न किसी रूप में यह समाज इनसे अपना मार्गदर्शन प्राप्त कर रहा है। इन पुराणों को एक प्रकार से वेदों का सरलीकृत रूप कहा जा सकता है अथवा यह कहा जा सकता है कि वेदों के दुरूह और अगम्य विषयों को पुराणों ने अत्यधिक सरल भाषा में प्रस्तुत करके सार्वजनीन कर दिया। भारतीय शास्त्रों में ज्ञान, भक्ति और त्याग का जो वैशिष्ट्य यत्र-तत्र दिखाई देता है, पुराणकारों ने विविध हृदयाकर्षक कथाओं के माध्यम से उसे सर्वसुलभ करा दिया है। यदि हमें आज भी अपने भारतीय भूगोल का प्राचीनतम रूप जानना है और भारतवर्ष की अखण्ड सीमाओं का ध्यान करना है तो पुराणों से बढ़कर और कोई भी आकर ग्रन्थ नहीं हो सकते हैं। पुराण सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विचारधाराओं के भी ऐसे अक्षय भण्डार हैं जिनका अविरण कोश आज भी हमें सर्वत्र प्राप्त है। ये पुराण ऐसे हैं जिनमें भारत और भारतीयता के विचार सुदृढ़ ढंग से पिरोए गए हैं। यद्यपि इन पुराणों की कथाएँ और इनकी शैली कहीं-कहीं अतिरंजनापूर्ण है और इसीलिए कुछ लोग इनके वर्णनों को या तो अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हैं या फिर अविश्वसनीय कहकर इसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि पुराणों में काव्यात्मक दृष्टि होने के कारण यह तो हो सकता है कि इनमें कहीं-कहीं अति-शयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया हो किन्तु यह सभी का सभी वर्णन अतिरंजित या कि उपेक्षणीय है-

ऐसा कहना अथवा समझना किसी भी तरह संगत नहीं है। आर्यावर्त, अथवा भारत-वर्ष की प्रतिष्ठा, रक्षा, सुरक्षा शालीनता और समृद्धि का जो स्वरूप इन पुराणों से प्रतिष्ठापित हुआ है और इस सन्दर्भ में इन पुराणों ने जिस प्रकार की जन चेतना को जागृत किया है उससे भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति और भारतीय ज्ञान के प्रकाश की आभा पूरे भूमण्डल में फैली है और उस आभा से यह देश महिमा मण्डित होकर विश्वगुरु कहलाने का अधिकारी हो सका है/ सत्य, असत्य, कार्य, अकार्य, विचार्य, अविचार्य, ज्ञान और विज्ञान चाहे जिस बात की भावभूमि हो, पुराणों ने एक विशेष प्रकार की दृष्टि के द्वारा सदा-सदा से इस देश को दृष्टि प्रदान की है। इनकी इसी दृष्टि से यहाँ के सत्यवादी, यहाँ के कार्यवादी, यहाँ के ज्ञानवादियों ने अपनी सत्यदृष्टि को कार्यदृष्टि को, ज्ञानदृष्टि को प्रचारित-प्रसारित किया और इस भारतभूमि के गौरव को अभिवर्धित किया है।

पुराणों की इन विशेषताओं के साथ-साथ इनमें राष्ट्र और राष्ट्रियता के स्वरूप तथा राष्ट्रियभावना की ऊष्मा का अनुभव नैसर्गिक रूप से किया जा सकता है। पुराणकारों के मन में इस राष्ट्र के प्रति एक भावभूमि है और इसी भावभूमि से बंधकर इनमें राष्ट्र की एक विशिष्ट परिकल्पना की गई है जिसके अनुसार कहा गया है कि यह भारतभूमि धन्य है। इसकी प्रशंसा के गीत देवगण भी गाते हैं। यह भारतभूमि स्वर्ग और अपवर्ग को देने की परम हेतु है।[1]

---

1. गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः मनुष्याः।।

ब्र० पु० 19/25

पुराणकार अपनी भारतभूमि के प्रति इस उच्च मनोभाव को विविध तरह से व्यक्त करते हैं। वे इस धरती की सीमा का निर्धारण करते हुए यहाँ के विशाल समुद्रों की अपरिमित परिधि का वर्णन करते हैं। उसमें प्राप्त होने वाली अनन्त कोटिक सम्पत्ति का विवरण देते हैं। रत्नाकर की रत्न-भाण्डार अमूल्य धरोहर का वर्णन करते हैं, समुद्र की विशालता और इस भूमि के सीमाङ्कन की उसकी क्षमता का विस्तार से वर्णन करते हैं। इसी तरह से नदियों, पर्वतों, चन्द्र-सूर्यादि ग्रहों, मन्वन्तरों, देवों, दैत्यों, और विशाल भूमि का वर्णन है। भविष्य पुराण में जब ब्रह्माण्ड का वर्णन किया जाता है तो कहा गया है कि महद् आदि विशेषान्त वाला, वैरूप्य से सहित, पाँच प्रमाणवाला तथा षट्कक्ष पुरुष से अधिष्ठित यह जगत् है, जल की मूर्ति वाला भगवान् विष्णु समस्त स्थावर और जंगम जगत् में सृष्टि के निमित्त दो भागों में विभक्त हो गया। उसका एक भाग भू कपाल था और दूसरा भाग नभ था। उसका उल्ब जरायु मेरु हो गया और वही पर्वत कहा गया। इस तरह पचास करोड़ गुणित योजना की महत्ता से सात द्वीप और सात समुद्र वाली भूमि का प्रमाण कहा गया है।[2]

पुराणकारों के मन में अपने राष्ट्र के प्रति इतना अधिक राष्ट्रिप्रभाव दृढ़मूल है कि वे अपनी इस धरती की शुभाकांक्षा के साथ-साथ यहाँ के सभी प्राणियों, जीव जन्तुओं, नदी-नगरों के प्रति अपनी शुभाकांक्षा व्यक्त करते हैं। पद्मपुराण में हम ऐसा सन्दर्भ देखते हैं जिसमें यह कामना की गई है कि इस भारतभूमि के लिए कल्पना की गई है कि यह भूमि प्रतिष्ठित हो,

- -

2. भ0 पु0 सं0, पृ0 301-302

यहाँ के राजा बलवान हों और इस भूमि के रक्षण में सभी भाँति से समर्थ होवें, यहाँ की गर्भवती महिलायें और वृद्ध श्रेष्ठ स्वास्थ्य से युक्त होवें तथा गोधन के लिए पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होवे तथा गौयें अत्यधिक दुग्ध देने वाली बनें। अच्छी और समय पर वृष्टि होवे तथा राष्ट्र में अन्न की बहुलता से सुभिक्ष रहे। यह हमारा राष्ट्र नित्य अभिवर्द्धित होता रहे। और इसमें निरन्तर शान्ति बनी रहे। देवता, ब्राह्मण, भक्त और कन्यायें, पशु तथा सर्वभूतों के लिए निरन्तर शान्ति रहे।[1]

विश्लेषण

इस प्रकार से पुराणकार राष्ट्र और राष्ट्रभाव के प्रति न केवल समर्पित दिखते हैं वे निरन्तर राष्ट्रीय तत्वों के सबल और सम्पन्न होने के लिए प्रार्थनारत रहते हैं। पुराणकारों के मन में अपनी इस भूमि के प्रति न केवल श्रद्धा मात्र है वरन् इसकी विशालता, इसकी श्रेष्ठता के लिए उनके मन में अप्रतिम निष्ठा का भाव भी है। वे इस भूमि के नदी, पर्वतों, नदियों, ग्रामों, नगरों, धार्मिक विचारों, मनुष्य के व्यवहारों और यहाँ के जीवन दर्शन के प्रति इसलिए चिन्तित हैं कि यह राष्ट्र सबल और समृद्ध हो तथा यहाँ की राष्ट्रभावना सुदृढ़ हो।

---

1. वृद्धिं स्वस्य राष्ट्रस्य राज्ञः सर्वबलस्य च।
गर्भिणीनां च वृद्धानां वीहिणां च गवां तथा।।
ब्राह्मणानां च सततं शान्तिं कुरु शुभं कुरु।
अन्नं कुरु सुवृष्टिञ्च सुभिक्षमभयं तथा।
राष्ट्रं प्रवर्धतु विभो शान्तिर्भवतु नित्यशः।।
देवानां ब्राह्मणानाञ्च भक्तानां कन्यकासु च ।
पशूनां सर्वभूतानां शान्तिर्भवतु नित्यशः।।   वही 192/4-12

द्वितीय अध्याय

(वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र और राष्ट्रिय भाव का प्रारम्भिक स्वरूप)

द्वितीय अध्याय

[वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र और राष्ट्रियभाव का प्रारम्भिक स्वरूप]

वेद वाङ्मय, वेद वाङ्मय में राष्ट्र की परिकल्पना, विश्लेषण, वेदों में राष्ट्रियभाव, राष्ट्रियभाव की प्रतीक मातृभूमि, पर्वतों तथा नदियों के प्रति महनीयभाव, गृहों, ग्रामों तथा जनपदों के प्रति आदरभाव, गोवंश के प्रति महनीयभाव, राजा, राष्ट्र और राष्ट्रियभाव, भारती एवं भारतीयता, राष्ट्रिय एकता के भाव, स्व मंगल तथा सर्वमंगल की भावना, निष्कर्ष ।

-: द्वितीय अध्याय :-

[वैदिक वाङ्‌मय में राष्ट्र और राष्ट्रीयभाव का प्रारम्भिक स्वरूप]

वेदवाङ्‌मय

आर्यों के साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन और परम्परा के सूत्र वैदिक वाङ्‌मय में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में भारत की चाहे भाषा हो, कला, सभ्यता हो अथवा अन्य कोई परम्परा हो, यदि हमें उसके प्रारम्भिक विकास से लेकर अद्यतन समय के स्वरूप को जानने की इच्छा होगी, तो निश्चित ही वेदों का आश्रय लेना होगा। यह स्थिति केवल विद्वान और विचारवान् के लिए ही नहीं अपितु कोई भी भारतीय विश्व के किसी भी स्थान में हो, जब भी उसे अपनी प्राचीन भारतीय निधि की आवश्यकता होगी, वह वेदों का आश्रय लेगा और उसे ही प्रामाणिक मानकर अपना मार्ग निश्चित करेगा। यदि यह कहा जाए कि प्राचीन समय से ही इस भूमि पर अनेक प्रकार की विचारधारायें प्रचलित थीं और वैसे में विविध विचार धाराओं के लोगों ने किस प्रकार से वेद विहित परम्परा को अपने विचारों का आधार माना तो यही कहा जा सकता है कि विविध मत-मतान्तरों के होते हुए भी अधिकतर जनों ने वेद को अपना प्रामाण्य माना और जिन्होंने वेदों का निरादर किया या खण्डन किया वे इस देश में प्रतिष्ठित नहीं हो पाए; फिर चाहे वे चार्वाक् रहे हों, बौद्ध रहे हों या कि जैन मतावलम्बी।

विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे आदि धातुओं से करण और अधिकरण में "हलश्च"[1] सूत्र से घञ् प्रत्यय होकर वेद शब्द निष्पन्न होता है। दयानन्द सरस्वती जी ने "विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विदन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः येषु

- -

1• सि० कौ०, पृ० 639

या विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदा:"- इस प्रकार की व्युत्पत्ति वेद शब्द की है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद का अर्थ जहाँ ज्ञान होता है, वहीं पर वह सत्ता विचार, लाभ आदि के रूप में भी अपनी मूल धातु के प्रयोग से समझा जा सकता है।

वेद वाङ्मय से कितने साहित्य का उपलक्षण किया जाए इसके विषय में भी अनेक स्थानों पर विचार किया गया है। जैसे-"मंत्रं ब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते" कहकर बोधायन गृह्यसूत्र में मन्त्र अर्थात् संहिता तथा ब्राह्मण भागको वेद कहा गया है।[2] इसी तरह से-" मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद शब्द:" कहकर एक अन्य स्थान में भी संहिता और ब्राह्मण को ही वेद कहा गया है।[3] और इस प्रकार से यह वेद - वाङ्मय प्राचीनतम् है और हमारे परम प्रामाण्य के साथ-साथ किसी भी विषय के आदि के स्रोत को जानने के लिए महत्वपूर्ण भी है।

वेदवाङ्मय में राष्ट्र की परिकल्पना:

वेद वाङ्मय में यद्यपि राष्ट्र के क्रमबद्ध स्वरूप का लक्षण चाहे न देखा जा सके किन्तु राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपनी भावना व्यक्त करने वाले साहित्य के रूप में वेद वाङ्मय का कोई प्रतिरूप साहित्य नहीं है। इसलिए जब वहाँ पर सृष्टि के प्रारम्भ की कल्पना की जाती है, तो यह कहा गया है कि सूर्य जो हिरण्यगर्भ के रूप में प्रकट हुआ और वह सत्, चित्, सुखात्मक रूप सृष्टि का आदिभूत है। अखिल विश्व के उत्पत्तिकर्ता प्रजापति पिता कहे गए हैं। उसकी सत् सृष्टि और असत् से भिन्नता की दृष्टि है।[4] इस रूप में सृष्टि का आदि रूप सत् रूप है जो राष्ट्र

---

1. दृष्टव्य: वे०सा०सं०द०, पृ०3
2. वही 2/6/3
3. कौ०गृ०3/12/23
4. ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् विसीमत: सुरुची वेन आव:।
   सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा: सतश्च योनिमसतश्च वि व:।। अथर्व०प्र०, पृ०129

का मूल आधार है। इसी प्रकार से इसी वेद में अदिति जिसे पृथिवी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है, उसे हम एक राष्ट्र के अंग के रूप में देख सकते हैं। वहाँ कहा गया है कि अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है,अदिति ही विश्वेदेवता है। इस जगत में जो हो रहा है, वह अदिति है,जो होगा वह अदिति है। अच्छी तरह से रक्षा करने वाली,सुख देने वाली,कुशल रखने वाली , छेद रहित सुदृढ़ नौका की भाँति चढ़कर हम उसकी शरण में जाते हैं। अन्न की प्राप्ति के लिए हम उसका गुण गान करते हैं।[1] इसी प्रकार से एक स्थान पर यह आकांक्षा व्यक्त की गई है कि मेरे हाथ में हे देव! ऐसी मणि बाँधों जो राष्ट्र के रक्षण में हमारी सामर्थ्य बढ़ाए और जो हमारे सपत्न (शत्रु हैं) हैं उनसे रक्षण हो सके । इस भाँति हमारा राष्ट्र रक्षित हो।[2] और ऐसा ही एक भाव ड और है, जो यह कहता है कि हमारे राष्ट्र में धन हो और उससे वह शक्ति तथा सामर्थ्य से युक्त हो।[3]

वेद साहित्य अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है जिनसे यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों के मन में राष्ट्र की सम्पूर्ण कल्पना अपनी सम्पूर्णता के साथ विद्यमान थी। इसी कारण से उनकी कोई प्रार्थना और कोई भी क्रिया ऐसी नहीं थी जिसमें वे राष्ट्र की अभिवृद्धि और सर्वसम्पन्नता के लिए सचेष्ट न रहते हों

- -

1. सुत्रामाणं पृथिवीं धामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतम् ।
   दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्त्रावन्ती मा रुहेमा स्वस्तये।। वही,पृ0354
2. अभिवर्तो अभिभव: सपत्नक्षयणो मणि:।
   राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्य: पराभुवे।। वही,पृ036
3. अस्मै क्षत्रमग्नी षोमावास्मै धारयतं रयिम।
   इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुत युज उत्तरम् ।। वही ,पृ0289

वेद यज्ञ क्रियाओं का विस्तार से वर्णन करते है और स्थान-स्थान पर यह निरू-पित करते हैं कि वैदिक ऋषि भिन्न-भिन्न देवताओं को आहुति देते हुए जहाँ अपनी वैयक्तिक इच्छायें और कामनायें पूरी करते थे वहीं वे राष्ट्र की समृद्धि और शुभाकांक्षा के लिए भी अपनी आहुतियाँ देकर प्रार्थनायें करते थे। ऐसी ही भावना का दर्शन हमें एक स्थान पर इस रूप में दिखाई देता है जहाँ अग्नि में द्रव्य सामग्री देते हुए प्रार्थना करते हैं कि हमारे राष्ट्र को बलवान और सामर्थ्य-वान बनाने के लिए सभी सामग्रियाँ दो।[1]

जब ऋषि राष्ट्र की स्थिरता, राष्ट्र की अस्मिता और राष्ट्र की परिकल्पना में रत थे तब वे राष्ट्र नायक के रूप में जिस राजा का अभिषेक करते थे अथवा उसे राज्याधिकारी बनाते थे, तो उससे भी यही अपेक्षा करते थे कि वे दृढ़ रहकर अपनी दृढ़ता से राष्ट्र की रक्षा करें और जिस प्रजा पर शासन करने का उन्हें अधिकार प्राप्त हुआ है, उस प्रजा की श्रद्धा और विश्वास प्राप्त करें।[2] बिना दृढ़ता से राज्य की रक्षा किये कोई भी प्रजा की श्रद्धा और उसका विश्वास नहीं प्राप्त कर सकता है।

राष्ट्र की स्पष्ट और यथार्थ-निरूपण दृष्टि को यदि हम अथर्ववेद में देखें तो इस राष्ट्र के विस्तार को और इसके सम्पन्न भूभाग को इस रूप में देख सकते हैं जिसमें ऋषि वर्णन करता है कि जिस पृथिवी में अनेक सागर और नदियाँ हैं,

---

1. सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।
सूर्यत्वचस स्थं राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ।। यजु० सं० 10/14

2. ऋ० वे० 10/173

जिस पृथिवी में प्राणियों के लिए अन्नादि फल प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है, और जहाँ पर खेती करने के लिए कृषक हैं। जिस पृथिवी पर जड़ और चेतनरूप समस्त प्राणियों का समूह आनन्दित होता है, वह मातृ-भूमि हमारे लिए पूर्व की ही भाँति भोज्य पदार्थ या भोग्य पदार्थ उपलब्ध कराए।[1] अर्थात् इस भूमि के समस्त प्राणियों को अपने-अपने लिए भोज्य-सामग्री उपलब्ध हो। इसी प्रकार से वहाँ पर यह भी कहा गया है कि जिस पृथिवी के चारों ओर चार दिशाएं हैं, जिस पृथिवी पर धन-धान्यादि उपलब्ध हैं और खेती करने वाले किसान हैं, जो जड़-चेतन का भरण-पोषण करती है, वह पृथिवी हमें गो इत्यादि पशुधन तथा अन्नादि सामग्री उपलब्ध कराये और इसी क्रम में वहाँ इन सब के साथ उत्तम राष्ट्र के धारण करने की प्रार्थना भी ऋषि ने की है।[2]

ऋग्वेद में भी यह अनेकशः देखा जा सकता है कि राष्ट्र की स्थिरता ध्रुवता और अविचलता के लिए ऋषिगण बार-बार प्रार्थना करते हैं और दृष्टि से वे राष्ट्र का एक स्थिर स्वरूप प्रदान करते हैं। एक सन्दर्भ ऐसा है जहाँ ऋषि यह चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र ध्रुव, नित्य, अविचल हो। वहाँ के राजा वरुण जो राज्यकर्ता हैं, ध्रुव और अविचल हों। इन्द्रादिगुण से युक्त बृहस्पति ध्रुव हों।[3] और इसलिए वे ऋषि अपने राष्ट्र की परिकल्पना के साथ-साथ सर्वदा यह अपेक्षा करते हैं कि यह राष्ट्र सदा असपत्न (अर्थात् शत्रु-रहित) होवे। शत्रु इसे बाधित न करें।[4]

---

1. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।। अथर्व (द्वि०) पृ० 634

2. यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ।।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।। वही, पृ० 334-336

3. आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशत् ।। ऋ०सं० (मि०), पृ० 497-98

4. असपत्नः सपत्नहाभि राष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च।। वही० पृ० 499

विश्लेषण :

इस प्रकार से यह तो नहीं कहा जा सकता है कि वेदों में राष्ट्र के स्वरूप को अथवा राष्ट्र की परिकल्पना को कोई नियमित व्यवस्था एवं विचार के अनुसार स्वरूप दिया गया है अथवा उसकी कोई व्यवस्थित परिभाषा दी गई है किन्तु अनेकशः राष्ट्र के सम्बंध में कल्पना की गई है उससे एक निश्चित भू-भाग का स्वरूप उभर कर सामने आता है और वह राष्ट्र ऐसा है जिसमें सभी प्रकार की सम्पन्नता की परिकल्पना की गई है। अन्न,जल,वायु,पशुधन,राज्य,राजा और प्रजा जिसमें श्रेष्ठ और सम्पन्न हैं तथा जो सभी भाँति अविचल,स्थिर और दृढ़ हैं- ऐसा राष्ट्र निरूपित है। वेद द्वारा दिये गये संकेतित मंत्रों में अदिति के रूप में जिस पृथिवी की कल्पना है, वह मातृरूप में प्रतिष्ठित है और वह एक प्रकार से श्रेष्ठ राष्ट्र की प्रमुख अंग हैं । पृथिवी के रूप में अथवा अदिति के रूप में जिस भूमि का बार-बार स्तवन वेदों में होता है,वह राष्ट्र का प्रारम्भिक स्वरूप है और बाद में उसी के लिए अन्य सभी श्रेष्ठतायें चाही गई हैं।

वेदों में राष्ट्रीय भाव:

वेद जहाँ भारतीय भूमि के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं , वहीं इन ग्रन्थों में मानवीय विचार श्रेष्ठता के ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनसे ऋषियों के श्रेष्ठ और विशिष्ट व्यवहार का परिज्ञान भी होता है। इन ग्रंथों में अपने राष्ट्र और राष्ट्रीय विचार के तो ऐसे तत्व दिखाई देते हैं जिनकी उपलब्धि इस प्रकार से सम्भवतः ही अन्य कहीं होती है। जहाँ तक राष्ट्रीयभाव के सम्बंध में विचारों का प्रश्न है,वहाँ सर्वप्रथम तो हम यही देखते हैं कि वेद अपनी इस धरती के प्रति एक ऐसे भाव का सृजन करते हैं जिस भाव से हम इस धरती को माता और स्वयम् को इसका पुत्र मानकर एक विशिष्ट भाव से जुड़ जाते हैं । इस प्रकार के भाव से जुड़कर ऋषि कल्पना करते हैं कि वायु हमारे लिए सुख देने वाली औषधि प्राप्त

करावे। माता हमारी पृथिवी है और पिता आकाश है,वे हमारे लिए रोग-रहित करने के लिए औषधि लावे।[1] इस वर्णन में हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि माता के रूप में पृथिवी का और पिता के रूप में आकाश को कल्पित करने की भावना एक विशिष्ट भावना है। इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह कहा गया कि हे पृथिवी माता। उत्तम कर्म करने वाले प्रजारूप पुत्रगण तुमको माता मानते हैं। तुमस्थावर और जंगम में सत्य का स्थापन करने के लिए पूर्व के स्थान की रक्षा करते हो। मैं माता की भाँति तुम्हें पुकारता हूं।[2]

अपनी भूमि के प्रति इस प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति के अन्य अनेक ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें ऋषियों का यह कथन प्राप्त है, जिसमें वे कहते हैं कि मैं आकाशरूप पिता और पृथिवी रूप माता का महत्व निरन्तर जानता हूं । और इस महत्व का निरन्तर चिन्तन भी करता हूं । ये पृथ्वी और आकाश अत्यन्त विशाल और विस्तृत हैं तथा ये अपनी विशालता से सभी लोकों का पालन करते हैं।[3] पृथ्वी की विशेषता का बखान करते हुए ऋषि उसकी निर्मिति को अश्विनीकुमारों से बताते हैं,विष्णु के द्वारा इस पर चंक्रमण किया गया है। ऐसा वर्णन कर इसके महत्व को रेखांकित करते हैं। ऋषि वर्णन करते हैं कि जिस पृथ्वी को अश्विनी कुमारों ने बनाया,विष्णु ने जिस पर विक्रमण किया,इन्द्र ने अपने अधीन कर शत्रुओं से हीन किया,वह पृथ्वी मुझ पुत्र के लिए स्वच्छ,स्वास्थ्यप्रद जल अधिक धाराओं के साथ प्रवाहित करें।[4]

---

1. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः ।
   तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्।।ऋक्,पृ0172
2. ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
   स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः।।
   वही,पृ0302; यजु0सं0 2/10
3. वही,पृ0 303
4. अथर्ववेद0, पृ0 634-635

ऐसा ही मातृभाव जो हमारे राष्ट्रीयभाव भाव का एक अंग कहा जा सकता है, वेदों में नदियों के प्रति भी दिखाई देता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि से नदियाँ केवल पार्थिव स्रोत की वाहिनी नहीं हैं वे भी ऐसी उपकारिणी हैं जैसे माँ उपकारिणी होती है। एक स्थान पर वर्णन किया गया है कि मैं माता के समस्त सिन्धु नदी और श्रेष्ठ सौभाग्यशाली विपाशा नदी को प्राप्त होता हूं, ये दोनों नदियाँ वत्साभिलाषिणी गौओं की भाँति आश्रम स्थल की ओर प्रयाण करती हुई जाती हैं। ये नदियाँ जल से पूर्ण हुई, भूमि प्रदेशों को सींचती हुई ईश्वर द्वारा निर्मित स्थान की ओर जाती हैं। इनकी गति कभी रुकती नहीं है। हम इनकी अनुकूलता प्राप्त करते हैं।[1] इसी तरह से एक अन्य स्थान पर भी यह कहकर नदियों के महत्व को और उनके सामर्थ्य को रेखांकित किया गया है कि सरस्वती ने देवनिन्दकों का वध किया है तथा मनुष्यों को भूमि प्रदान कर जलवृष्टि की है।[2] नदियों के प्रति इस प्रकार के वर्णन से जहाँ उनके प्रति मातृवत् आदर का प्रदर्शन होता है और यह भी इंगित होता है कि नदियाँ ही मनुष्य का कृषि कार्य के लिए तथा निवास के लिए अपने तट अथवा भूमि क्षेत्र प्रदान करती हैं।[3] यह हम सभी जानते हैं कि नदियों के द्वारा छोड़ी गई भूमि कृषि कार्य के लिए सर्वोत्तम भूमि होती है तथा नदियों के द्वारा छोड़ी गई तटभूमि के नगर व्यापारादि की सम्पन्नता के कारण सम्पन्न होते हैं जिसे ऋषियों ने अपनी उल्लिखित भावनाओं द्वारा व्यक्त किया है।

- -

1. अच्छा सिन्धुं मातृतमामयास विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
   वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती।।
   एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
   न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति।। ऋग्, पृ० 508

2. वही, पृ० 946

3. ऋग्, पृ० 417

इसी प्रकार से वैदिक ऋषियों के मन में पर्वतों के प्रति वनों के प्रति तथा अन्य उपादानों के प्रति आदर का भाव देखने को मिलता है, जिन भावों के माध्यम से वे न केवल इनके गुणगान करने तक ही सीमित रहते हैं अपितु इन्हीं भावनाओं के माध्यम से वे अपने राष्ट्रीय भाव को भी स्वर देते हैं। जैसे एक स्थान पर श्रीपर्वत का उदाहरण देते हुए वरुण की वन्दना करते हुए कहते हैं कि तुममें सभी पराक्रमयुक्त कर्म उसी तरह से स्थित हैं जैसे पर्वत अपनी स्थिरता के साथ स्थिर रहता है। इससे पर्वत की स्थिरता का भाव उसकी श्रेष्ठता का द्योतक दिखाई देता है।

इसी प्रकार से वेद साहित्य में राज्य, राजा, प्रजा, देवता, सभा, नगरों ग्रामों आदि के सम्बंध में इस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं, जिनसे इनकी श्रेष्ठता और इनके प्रति वैशिष्ट्य का भाव प्रतिष्ठित हुआ है। इन सबका स्वरूप और सम्बंध किसी न किसी तरह से राष्ट्र से होता है अथवा यह कह सकते हैं कि ये सभी किसी न किसी रूप में राष्ट्र के अंग होते हैं। इस दृष्टि से जब इनसे सम्बंधित श्रेष्ठ और विशिष्ट भावों को व्यक्त किया जाता है तब वे भाव राष्ट्रीय भाव ही कहे जा सकते हैं और यही राष्ट्रीयता की पहचान होती है। वेद साहित्य में पृथ्वी, नदियाँ, वन, पर्वत, ग्राम, नगर, राज्य और राजा आदि के प्रति जिस प्रकार के भाव प्रदर्शित किये गये हैं, उन्हें हम राष्ट्रीयभाव के संकेत ही कह सकते हैं ।

राष्ट्रीय भाव की प्रतीक मातृभूमि:

वैदिक ऋषियों के मन में यदि किसी के प्रति अधिकतम् मात्रा में आकर्षण और आदर है तो वह है भूमि के प्रति जिसे वे उसी माता की भाँतिमहनीय मानते हैं, जो पुत्रों को जन्म देती है और उनका पालन-पोषण करती है। यही कारण है कि ऋषि जहाँ भी कहीं पृथ्वी का वर्णन करते हैं उसे माता कहते हैं और स्वयं को

उसका पुत्र बताते हैं। इस दृष्टि से हम उस वर्णन को देख सकते हैं जिसमें ऋषि की भावभूमि यह है कि हे भूमि! जो तुम्हारा मध्य भाग है, जो तुम्हारा नाभि-स्थानीय केन्द्रीय भाग है, जो तुम्हारे अधिक लाभप्रदायक अंग हैं, हमें उन भू-भागों में प्रतिष्ठित करो। हमें सर्वथा पवित्र कर दो। पृथिवी हमारी माता है और हम पृथिवी के पुत्र हैं।[1] एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि माता गर्भधारण करने के कारण माता है, उसी भाँति अपने गर्भ में बीज धारण करने के कारण पृथिवी माता है और ऊपर की ओर बढ़ाने वाली ओषधियों के कारण वो पिता है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई एक अन्य ऋचा में यह कहा गया है कि सभी भूतों के गर्भ को पृथिवी धारण करती है।[2] और इसीलिए ऋषि कहते हैं कि जो भूमि सभी प्रकार की ओषधियों की जननी, धर्म से स्थिर, सुविस्तृत, सभी का कल्याण करने वाली, सुख प्रदान करने वाली है, हम सदैव उस भूमि की परिचर्या करते रहें।[3]

भूमि के प्रति इस प्रकार से भावाभिभूत होकर जब ऋषि उसे माता मान लेते हैं तो फिर वे उसकी महिमा का मण्डन उसी भाँति करते हैं, जैसे कोई अपनी माता की महिमा को मण्डित करता है। इसके साथ ही वे भूमि-माता से उसी प्रकार अपनी तथा सभी की सम्पत्ति-अभिवर्धन की कामना करते हैं जैसे कोई अपनी माँ के चरणों में बैठकर अपनी कल्याण-कामना करता है। यहाँ पर इतना अवश्य वै-शिष्ट्य है कि वैदिक ऋषि भूमि-माता से केवल अपनी वैयक्तिक कल्याण की ही कामना नहीं करता, अपितु वह यह भी चाहता है कि यह भूमि उसे ऐसी सम्पत्तियों

---

1. यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
   तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥
   अथर्व (वि०), पृ० 635
2. अथर्व (पू०), पृ० 115; 24।
3. विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतम्।
   शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा। अथर्व (वि०), पृ० 636

से समन्वित करे जो सम्पत्तियाँ सभी के लिए उपयोगी और कल्याणकारी हैं।

पृथिवी और द्यौ की ऐसी ही अपरिमित शक्ति का स्तवन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि हे आकाश और पृथिवी! मैं तुम्हारी महिमा को जानता हुआ तुम्हारी स्तुति करता हूं। तुम दोनों अपरिमित मार्गों वाले तथा विस्तृत हो। हे आकाश और पृथिवी! तुम सब प्राणियों में अमृतत्व की स्थापना करते हो, चरु-पुरोडाश आदि हवियों को धारण करते हो, तुम नदियों को धारण करने वाले हो, तुम मेरे लिए सुख के निमित्त बनो और हमें पाप से बचाओ। हे पृथिवी! तुम गौओं को पुष्ट करती हो, वनस्पतियों का पोषण करती हो, तुम्हारे मध्य जो प्राणी निवास करते हैं वे मेरे सुख के लिए होवें। तुम संसार का अन्न से पोषण करते हो, तुम्हारे बिना कोई कुछ नहीं कर सकता है।[1]

पृथिवी के इसी स्वरूप का, उसके विस्तार का इसकी महिमा का वर्णन और भी स्थानों पर प्राप्त है। जैसे अन्य स्थानों में यह कहा गया है कि ब्रह्म, तप, सत्य, यज्ञ, दीक्षा और बृहत जल, पृथिवी द्वारा धारण किये जाते हैं, ऐसे भूत, भवितव्यादि की पालनकर्त्री पृथिवी हमें स्थान दे। इसी भाँति यह भी निरूपण किया गया है कि जिस पृथ्वी को अश्विनी कुमारों ने बनाया, विष्णु ने जिस पर संक्रमण किया, इन्द्र ने जिसे अपने अधीन कर शत्रुओं से छीन लिया, वह पृथिवी माता द्वारा पुत्र को दूध पिलाने के समान सार रूप जल प्रदान करे।[2] पृथिवी के लिए

---

1. ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।
   द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुंचतमंहसः।।..........।
   ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
   द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुंचतुमंहसः।। अथर्व॰ [प्र॰], पृ॰167

2. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
   सानो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।
   यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।...........।
   सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।। अथर्व [वि॰] पृ॰263-634

ऐसे ही अन्य भाव अनेक स्थानों पर प्रकट किये गये हैं जिनसे वेदों का भूमि के प्रति आदर,प्रेम और लगाव का भाव प्रकट होता है।

पर्वतों तथा नदियों के प्रति महनीयभाव

वैदिक ऋषि जिस तरह से अपनी मातृभूमि के प्रति आदर के भाव को व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं,उसी तरह से उनके मन में पर्वतों और नदियों के प्रति भी आदर का भाव दिखाई देता है। वे जब पर्वतों का वर्णन करते हैं,तो उनके प्रति भी उनके मन का मानवीयकरण उभरकर सामने आता है। वे यह कहते हैं कि हमारे पर्वत ही ऐसे हैं जो भूमि पर जल वर्षा होने में सहायक होते हैं और अपने ऊपर आरोपित वनस्पतियों को जन-जन के लिए उपलब्ध कराते हैं। हम उन्हीं वनस्पतियों को प्राप्त करके ही नीरोग बनते हैं। इसीलिए पर्वतों के सम्बंध में यह वर्णन प्राप्त है कि वे हमारे लिए परम सुखकारक तथा अध्यात्मिक साधना के उत्कृष्टतम् साधन हैं।[1] इसीलिए यह इच्छा भी की गई है कि वे हमारे पर्वत शत्रुओं से सदा सुरक्षित रहें और हम सदा-सर्वदा इनसे अपेक्षित लाभ प्राप्त करते रहें। अपनी इस भावना के अनुसार ही एक स्थान पर पृथिवी की प्रार्थना के संदर्भ में यह कहा गया है कि हे पृथिवी ! तेरे गिरि,तेरे पर्वत, हिमवान् अरण्य हमारे लिए सुखकारक होवें।[2]

जिस प्रकार के भाव पर्वतों के प्रति हैं और जिस तरह से पर्वतों को अपने लिए सुखकारक समझा गया है उसी तरह से हम सिन्धु,जिसे कहीं-कहीं नदियों के पर्याय के रूप में देखा जा सकता है, के विषय में भी अपने भावों को व्यक्त

---

1. ऋ॰वे॰ 8/11/10 ; यजु॰ 26/15

2. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।। अथर्व॰ 12।1।11 पृ॰ 635.

किया गया है। इसके साथ ही नदी के लिए भी माता के भाव को ही प्रकट किया गया है। जैसे एक स्थान पर कहा गया है कि जलयुक्त प्रवाहवाली नदियाँ पर्वत के अंग से निकल कर समुद्र से मिलने की कामना वाली होकर अश्वशाला से विमुक्त अश्व के समान स्पर्धावान् होती हुई, तरंगों द्वारा बढ़कर परस्पर मिलने की चेष्टा करती हुई सी शोभा पाती हों। इसलिए मैं माता के समान सिन्धु नदी और श्रेष्ठ सौभाग्यशाली विपाशा नदी को प्राप्त होता हूं।[1] इसी वर्णनक्रम में जहाँ हम यह देखते हैं कि ऋषि नदियों के प्रति अपना मातृभाव प्रकट करते हैं, वहीं वे उन नदियों के उस कार्य की रूपरेखा भी वर्णित करते हैं। जिसके अनुरूप नदियाँ जल से पूर्ण होकर भूमि प्रदेशों को सींचती हुई, ईश्वर द्वारा रचित स्थानों को चली जाती हैं। ऐसी नदियों की गति कभी रुकती नहीं है।[2] यह वर्णन संकेतित करता है कि नदियाँ भूमि-सिंचन करके अन्नोत्पादन में सहायक होकर अप्रत्यक्षरूप से प्रजा पोषण में सहायक हैं और इसीलिए उनके प्रति मातृभाव है।

एक अन्य स्थान पर सरस्वती नदी का नाम स्पष्ट रूप से लिया गया है और यह कामना की गई है कि जिन सरस्वती ने स्वर्ग से पृथिवी को तेज से परिपूर्ण किया, वह हमें निन्दा करने वालों से बचावें। सप्त नदियों वाली सरस्वती संग्राम में आह्वान करने योग्य होती है। यह सरस्वती पर्वत के तटों को अपनी

---

1. प्रपर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।
अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती।।
ऋक् (3/33), पृ० 507-508

2. वही, पृ० 508

लहरों को तोड़ती है। हम उन्हीं की सेवा करते हैं। हे सरस्वती! तुमने देव - निन्दकों और त्वष्टा के पुत्र को मारा तथा मनुष्यों को भूमि देकर जलवृष्टि की। अन्नवती सरस्वती रक्षा करने वाली है, वे हमें भली प्रकार से तृप्त करें।[1]

इसी वेद में एक अन्य स्थान पर सिन्धु नदी की प्रशंसा में यह कहा गया है कि सिन्धु नदी का निनाद पृथिवी से उठकर आकाश को गुंजरित करता है। यह नदी अपनी प्रचण्ड लहरों और अत्यन्त वेग के साथ गमन करती है। जब यह दैत्य के समान घोर शब्द करती है, तब ऐसा प्रतीत होता है। जैसे गर्जनशील मेघ जल की वर्षा कर रहे हों। माता जैसे बालकों के पास जाती है और पयस्विनी गौएँ अपने बछड़ों की ओर गमन करती है, वैसे ही प्रवाहित होती हुई सब नदियाँ सिन्धु की ओर गमन करती हैं। जैसे युद्धरत् राजा अपनी सेना को संग्राम भूमि में ले जाता है, वैसे ही तुम अपने साथ चलने वाली दो नदियों को आगे-आगे लेकर चलती हो। इसी क्रम में गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलज आदि नदियों का स्मरण किया गया है और इन सभी के प्रति अपनी शुभाकांक्षा की याचना की गई है।[2]

इतना ही नहीं, सरस्वती नदी को तो वैदिक ऋषि अन्य सभी माताओं

- -

1. इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।।
सरस्वती देवनिदो निबर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति।।
प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु।। ऋक्॰(6॰),पृ॰945

2. इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।।
ऋक्॰(10॰),पृ॰ 1702

में श्रेष्ठ माता के रूप में वर्णित करते हैं क्योंकि यह अन्य सभी नदियों में श्रेष्ठतम् नदी है। साथ ही इस नदी में जल का वास है जिसका अभिप्राय यह है कि इस नदी के जल सिंचन से क्षेत्र में अन्न अधिक उत्पन्न होता है और उसी अन्न से जन-जन का पालन-पोषण होता है। ऋषि तो इस नदी में मातृत्व की इतनी अधिक सम्भावना को प्रकट करता है कि इस नदी से याचना करता है कि हे सरस्वती! तुम हमें पुत्ररूप सन्तति प्रदान करो।[1]

इस तरह से वेदों में हम जहाँ भी पर्वतों और नदियों के सम्बंध में ऋषियों की भावनाओं का अवलोकन करते हैं, वहीं हम यह देख सकते हैं कि इन पर्वतों और नदियों को केवल पार्थिव तत्व न मानकर ऋषियों[2]ने उनके प्रति अपने मानवीय भावों को स्वर दिया है और अपने राष्ट्र की सम्पूर्णता में उनके महत्व को विचारपूर्वक देखा तथा स्वीकार किया है। यही उनका राष्ट्रभाव कहा जा सकता है।

गृहों, ग्रामों तथा जनपदों के प्रति आदरभाव:

वैदिक साहित्य में अपने ग्रामों तथा नगरों के प्रति आदर का भाव इसलिए व्यक्त किया गया प्रतीत होता है क्योंकि ऋषियों के विचार के अनुसार इनका निर्माण देवताओं के द्वारा किया गया है। इसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई अथर्ववेद की ऋचा कहती है कि जिसको पूर्व में देवताओं ने निर्मित किया था-"यस्या: पुरो देवकृता:।"[2] इससे ग्रामादि के निर्माण के प्रति उनके देवभाव

- -

1. अम्बितमे नदीतमे सरस्वती। अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।
त्वे विश्वा सरस्वती श्रितायूंषि देव्याम्। शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः।
ऋ॰[प्र॰] पृ॰ 442-443

2. अथर्व[वि॰],पृ॰ 64।

का अभिव्यक्तीकरण होता है। वेद साहित्य में ग्राम अथवा नगर की मूल इकाई के रूप में कुल का उल्लेख किया गया है और कुलपति को अर्थात् कुलपालक को कुलप कहा गया है। इसमें परिवार का पिता, ज्येष्ठ भ्राता आता था। इस कुल में जिसे बाद में गृह भी कहा गया है उसमें सभी एक साथ मिलकर रहते थे।[1] एक स्थान के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ग्राम में अनेक कुल अथवा मनुष्यों का समूह मिलकर रहता था क्योंकि प्रकाशमान् अग्नि की प्रार्थना करते हुए यह आकांक्षा की गई है कि हे अग्निदेवता! मनुष्यों के लिए तुम ग्रामों के रक्षक तथा यज्ञों के पुरोहित बनो।[2] घर मंगलमय हो और वह श्रेष्ठ ग्रामों का आधार बने एतदर्थ यह भी ऋषियों की अपेक्षा है कि उसके चारों ओर मंगलमय ध्वनि हो। इसीलिए वे शकुनि को सम्बोधित कर प्रार्थना करते है कि हे शकुनि! तुम घर की दक्षिण दिशा में मधुरवाणी से कल्याण की सूचना देने वाले शब्द का उच्चारण करो। दुष्ट, वंचक अथवा असुर हमारे स्वामी व शासक न बन जायें।[3] इस प्रार्थना का अभिप्राय घर के प्रति अथवा घरों के समूह ग्राम के प्रति मंगलभाव से है, जो ग्राम की श्रेष्ठता को ही इंगित करता है।

ग्राम अथवा जनपद की मूल इकाई घर के प्रति जिस प्रकार की विशेषता का अंकन अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में किया गया है, वह वरेण्य और अभिनन्दनीय है। वहाँ के उस वर्णन से यह अनुभव होता है कि वैदिक ऋषि के मन में ऐसा विशिष्टभाव गृहों के प्रति था, जिससे हमारा ग्राम और जनपद श्रेष्ठ तथा मंगलमय होता था। वहाँ कहा गया है कि कल्याणकारी तथा मित्रता के भाव से सम्पन्न

---

1. ऋ॰वे॰ 10/179/9; 3/53/6

2. असि ग्रामेष्ववित्ता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः। ऋ॰(90), पृ॰ 10।

3. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः। वही, पृ॰ 444

चक्षुओं से इन गृहों को देखता हुआ ,इनमें जो रस है, मैं उस रस का ग्रहण करता हूं। ये हमारे घर सुख देने वाले हैं,धन-धान्य से परिपूर्ण हैं,घी-दूध से भी सम्पन्न हैं, इन घरों में परस्पर मधुर और शिष्ट संभाषण करने वाले निवास करते हैं ,इनमें सभी प्रकार का सौभाग्य निवास करता है, सभी हँसी-खुशी से रहते हैं,जहाँ न कोई भूखा है और न कोई प्यासा है, ऐसे घरों में कहीं से भी भय का सञ्चार न होवे। प्रवास में रहते हुए जिन घरों का हमें बराबर स्मरण आता है,जो घर सहृदयता की खान हैं, हमारे इन घरों में दूध देने वाली गौएं हैं,भेड़-बकरी आदि पशु भी प्रचुर मात्रा में हैं। अन्न को अमृत-तुल्य स्वादिष्ट बनाने वाले रस भी यहीं हैं। अत्यधिक सम्पत्ति रखने वाले मित्र यहाँ आते हैं और हँसी-खुशी के साथ हमारे संग स्वादिष्ट भोजनों में सम्मिलित होते हैं।[1]

---

1. गृहानैमि मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमतिः सुमेधाः ।
   अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणां पश्यन्पय उत्तरामि।।
   सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
   अक्षुध्या अतृष्यासो गृहा मास्मद् बिभीतन।।
   उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
   अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।।
   उपहूताः भूरिधनाः सखायः स्वादुसम्मुदः।
   अरिष्टाः सर्वपुरुष गृहाः नः सन्तु सर्वदा।।
   द्रष्टव्य, कल्याण ,पृ0 15

प्रतीत यह होता है कि गृह,ग्राम और नगर की अपेक्षा जन शब्द का प्रयोग बड़े समूह के लिए वेदों में प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में एक स्थान पर पुत्र,जन्म(कुल) विश् और जन का उत्तरशः बहुलता के अर्थ में प्रयोग किया गया है।[1] वहाँ पर यह वर्णन आया है कि जो देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की पूजा श्रद्धापूर्वक करता है वह अपने पुत्रादि स्वजनों के लिए अन्न और धन पाता है।[2] इसी तरह से ऋषि मन्यु देवता से भी यही कहते हैं कि हे मन्यु! तुम स्वभाव से ही शत्रु नाशक हो। सदा श्रेष्ठ तेज को धारण किये रहते हो और इसी लिए अनेक जन तुम्हें आहूत करते हैं।[3]

इस रूप में वेद साहित्य चाहे स्पष्ट रूप से ग्राम का नगर का स्वरूप वर्णन न करता हो किन्तु घर का जिस विशिष्टभाव से रेखांकन किया गया है, और घर में जिस स्नेह,प्रेम ,सद्भाव,सम्पत्ति की कामना की गई है,उससे यह प्रतीत होता है कि जिस ग्राम और जनपद की इकाई गृह जब सभी तरह से सम्पन्न है, तो फिर घरों के समूह वाला ग्राम और जनपद शोभा और सम्पत्ति से युक्त भला कैसे नहीं होंगे और यह भी कहना संगत होगा कि घर के इसी विभव वाले स्वरूप की आकांक्षा ही उसके महत्व को रेखांकित करती है।

- -

1. हि०सं०,पृ० 97

2. स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धनानृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्।।
वही, पृ० 412

3. ऋक् (ख०) ,पृ० 1717

गोवंश के प्रतिमहनीय भाव:

भारतीय परम्परा में गोवंश का जैसा महत्व प्रतिपादित किया गया है वैसा सम्भवत: ही अन्य किसी पशु का महत्व अंकित हो। इसका कारण जहाँ भावात्मक है वहीं उपयोगात्मक दृष्टि से भी गोवंश सदृश कोई पशुवंश नहीं है वेदों में तो एक स्वर से गाय के लिए महत्व और आदर के भाव अंकित किये गये हैं और यह कहा गया है कि गो का दान करने वाला अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, मरुद्गण और दिव् आदि सब लोकों को प्राप्त करता है।[1]

अथर्ववेद में ही गाय के पूरे शरीर से कुछ न कुछ उत्पत्ति के लिए कहा गया है और यह आकांक्षा की गई है, किन्तु तु पृथिवी, स्वर्ग, अन्तरिक्ष में वास करने वाले देवताओं के लिए दूध, घृत और मधु का सदा दोहन करती रहे। तेरे[2] सिर, मुख, कान, ठोड़ी दाता के लिए दूध, घृत, मधु का दोहन करे। ओष्ठ, नासिका, सींग, दानदाता यजमान के लिए दूध, घृत और शहद का दोहन करें।[2] इसी तरह से गो के पूरे शरीरांगों से यजमान के लिए दूध, घृत और शहद की उत्पत्ति का वर्णन कर गाय के अतिशय महत्व को अंकित किया गया है।

---

1. अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः।
   लोकान्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम्।। अथर्व (द्वि0), पृ0 564
2. यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू।
   आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु।।
   यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी।
   आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु।।
   ....
   यस्ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम्।
   आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु।। वही, पृ0 565

गाय के लिए यह भाव व्यक्त किया गया है कि गाय मंगलकारी है और धन रूप हैं। वे हमारे पुरातन को पुष्ट करती है तथा वे अपने गर्भ द्वारा बैलों को जन्म देती है। इसी दृष्टि से ऋषि ने प्रार्थना करते हुए यह अपेक्षा की है कि गौएँ हमारे घर में आकर हमारा मंगल करें। इस गोष्ठ में विभिन्न रंग की गौएँ सन्तानवती होकर इन्द्र के निमित्त उषाकाल में दुग्ध प्रदान करें हमारी गौएँ नष्ट न होवें, उन्हें चोर न चुरावें और शत्रु उन पर प्रहार न करें। गौओं के स्वामी जिन गौओं को इन्द्र के निमित्त देते हैं ,उन गौओं के सहित वे चिरकाल तक सुखी रहें। गौएँ छवि में सोमरूप प्रचुर भोजन दें वे इन्द्ररूप होती हैं, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक चाहते हैं।[1]

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि गौएँ कभी-2 एक रंग की होती है और कभी-2 अनेक रंग की होती हैं। ऋषि वर्णन करते हैं कि अंगिरावंशियों ने तप द्वारा इन गौओं को उत्पन्न किया है। इसलिए पर्जन्य तुम हमारी इन गौओ का मंगल करो। इन गौओं के महत्व को अंकित करते हुए यह कहा गया है कि रस रूप दुग्ध से गौएँ देवताओं के यज्ञ के निमित्त प्रदान करती हैं। सोम उनकी विशिष्ट आहुतियों के साक्षी हैं । इन्द्र इन गौओं को संतानवती बनाकर दुग्ध से परिपूर्ण करो।[2]

- -

1. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
   प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहाना:।।
   उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम्। उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।।

   ऋ० {६०} ,पृ० 892

2. या: सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्टया नामानि वेद।
   या अंगिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्य: पर्जन्य महि शर्म यच्छ।।
   या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
   ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमाना: प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठेरिरीहि।।

   ऋ० {१०}, पृ० 1883

गौओं के महत्व के कारण का भी उल्लेख यत्र-तत्र किया गया है। जैसे यह कहा गया है कि अर्यमा,पूषा,इन्द्र,बृहस्पति,तुम्हें उत्पन्न करें फिर तुम अपने क्षीर और घृतादि के द्वारा हमें पुष्ट करो।[1] यहाँ गाय के महत्व का सीधा सा तात्पर्य यह है कि गाय का दुग्ध और घृत मनुष्य के लिए पुष्टिकारक और आरोग्यप्रद है। इसलिए गाय महत्वपूर्ण पशु है क्योंकि मनुष्य को पुष्टि और आरोग्य दोनों की अपेक्षा होती है। इसी भावना से अभिभूत होकर ऋषि यह भी अपेक्षा करते हैं कि यह हमारी गाय हमारे गोष्ठ में आये और अपनी संतति से अधिक से अधिक संख्या में बढ़े। इस वर्णन के सन्दर्भ में एक अति ग्रामीण बात देखें तो यह मिलता है कि ऋषि ने यह भी चाहा कि गाय अपने उपलों[गोबर] से युक्त होकर हमारे घर में रहे। उपले आग प्रज्वलित करने के उपयोग में आने वाले हैं और गाय के गोबर से घर के लीपने का कार्य भी होता है, प्रतीत यह होता है कि प्राचीन समय में गाय के घृत,दुग्ध,दही, आदि के प्रयोग के साथ ही साथ उसके गोबर के उपभोग का महत्व भी स्वीकार कर लिया गया था। इसीलिए उपले देने वाली गौओं की अपेक्षा की गई है।[2]

गोवंश की इस अपेक्षा के साथ और इसके महत्व प्रतिपादन के साथ अन्य पशुओं के प्रति भी ऋषियों की आकांक्षा दिखाई देती है। जैसे इसी वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि जो पशु वायु द्वारा रक्षित होते हैं और त्वष्टा

---

1. सं सः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं0 बृहस्पतिः।
सीमिन्द्रो यो धनञ्जयो मयिपुष्यत् यद्वसु।।अथर्व [पृ0],पृ0102

2. संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सौम्यं मध्वनमीवा उपेतन।। वही, पृ0 102.

जिनके नाम-रूप नियत करता है,वे सब हमारे गोष्ठ में आवें। इन पशुओं में अश्वादि का संकेत किया गया है, जो बल के प्रतीक माने जा सकते हैं।[1]

इस प्रकार से राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ,विशेषकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में , गोवंश के महत्व को प्राचीन समय से ही देखा जा सकता है और वैदिक वाङ्मय में जिस रूप में इसे स्थापित किया गया है उससे हमारे भारतीय भाव की ही अभिव्यञ्जना होती है।

राजा, राष्ट्र तथा राष्ट्रभाव:

वैदिक कालीन समाज में राजा का स्थान अत्यधिक आदर और सम्मान का स्थान था । उस समय की स्थितियों के अनुसार राजा, सम्राट्, महाराज, स्वराट् भोज आदि ऐसे सम्बोधन थे, जो राजा के लिये प्रयुक्त किये जाते थे । कुछ विद्वान् अपना यह मत भी देते हैं कि इन उपाधियों के पीछे राजाओं की वह शक्ति अथवा सामर्थ्य भी छिपा है जो समय समय पर राजाओं द्वारा प्रदर्शित करने पर उन्हें दिया जाता था । इसका एक संकेत ऋग्वेद के उस स्थल पर मिलता है जहाँ पर इन्द्र की स्तुति करते हुये यह कहा गया है कि हे इन्द्र! तुम दाता हो, इसलिए हम तुम्हें भोज कहते हैं[2]।2

ऐसे महत्वपूर्ण राजा के लिये स्थिरता और प्रजा की मंगलकामना में निरत रहने की आकांक्षा करते हैं । एक स्थान पर राजा के लिए इसी तरह की कामना करते हुये कहा गया है कि हे राजन् ! तुम राष्ट्र के अधिपति बनाये गए हो । तुम इस राष्ट्र के स्वामी बनो । तुम स्थिरमति, अटल विचार और दृढ़ कार्यों के करने वाले बनो । तुम्हारी प्रजा तुम्हारे अनुकूल हो । कभी भी तुम्हारे राष्ट्र का अमंगल न होवे । हे राजन् ! तुम पर्वत के समान अटल होकर यहीं पर

1• संस्रवन्तु पशव: समश्वा: समु: पूरुषा: ।
संध्यान्यस्य या स्फाति: संस्राव्येण हविषा जुहोमि ।। वही,पृ070

2•वही, 2/42/10

निवास करो । इस राष्ट्र से तुम किसी भी प्रकार हटना नहीं । जिस प्रकार इन्द्र अविचल रूप से रहते हैं उसी प्रकार से तुम भी अविचल होकर रहना । तुम अपने बल और पौरुष से अपने राष्ट्र को दृढ़ करो । इसी क्रम में ऋषि यह प्रार्थना करते हैं कि हे वरुण !तुम इस राजा के राज्य को दृढ़ करो । बृहस्पति तुम इस राज्य को दृढ़ करो । इन्द्र और अग्नि देवता भी इस राष्ट्र को सुदृढ़ बनायें ।[1]

इस रूप में जहाँ राजा के प्रति महनीय भाव व्यक्त किया गया है और यह अपेक्षा की गई है कि राजा पर्वत की भाँति स्थिर होवे, अविचल होवे और उसकी प्रजा उसके अनुकूल होवे वहीं यह भी अपेक्षा है कि उस राजा का राज्य जिसे राष्ट्र शब्द से संबोधित किया गया है, वह राष्ट्र भी सुदृढ़ बने । दैवी शक्तियों से बार बार यह अपेक्षा है कि वे शक्तियां राजा को और राष्ट्र को दृढ़ करें, यही प्रदर्शित करती है कि वैदिक ऋषियों के मन में अपने राजा के प्रति महनीय भाव तो है ही, वे अपने राष्ट्र की अविचल स्थिति के प्रति भी सावधान हैं और चाहते हैं कि उनका राष्ट्र दृढ़ और स्थिर रहे ।

---

1. आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।।
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलिः ।
इन्द्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुं धारय ।।
ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ।। ऋक्[10], पृ0 1886

एक अन्य स्थान पर यह वर्णित है कि अभिषिक्त होने पर ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला और अनुजीवियों को आनन्द प्रदान करने वाला राजा प्राणधारियों का स्वामी होता है । यमराज प्राणियों पर शासन करने तथा दुष्टों को दण्ड दिलाने के निमित्त राजा से राजसूय यज्ञ कराते हैं । इस महत्व प्रतिपादन के साथ राजा से यह चाहा गया है कि सिंहासनारूढ़ राजा की सब सेवा करें और राजा भी प्रजापालन में तत्पर हों । राज्य का तेज दशों दिशाओं में व्याप्त होवे तथा भय से त्रस्त हुए शत्रु भाग जायें । यह राजा शत्रु, मित्र, स्त्री आदि से विविध प्रकार का बर्ताव करता हुआ दण्ड, युद्ध और अध्ययन आदि कार्यों का सम्पादन करने वाला होवे ।[1]

इसी प्रकार से राजा के सम्बंधमें अन्यत्र जो कुछ भी कहा गया है उसका यही अभिप्राय है कि सम्पूर्ण प्रजा तेरी राजा के रूप में कामना करती है और तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो । सभी को कम्पित कर देने वाले क्षत्रिय को प्रजा उसी तरह से अपना राजा चुन लेती है जैसे तारागण चन्द्रमा को अपना राजा बना लेते हैं ।[2]

राजा और राष्ट्र ये दोनों ही वैदिक ऋषियों के लिये महत्वपूर्ण रहे हैं और इनके सम्बंध में जब भी जहां उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं वे अत्यधिक श्रेष्ठ और महनीय विचार रहे हैं । वैदिक ऋषियों ने इस दृष्टि-कोण से जब यज्ञ की चर्चा की तब भी राजा की शक्ति-सम्पन्नता की अपेक्षा की । इसीलिए वे यज्ञ भगवान से प्रार्थना करते हैं और कहते हैं कि हे राजन्! जो हमारे विपरीत पक्ष वाले हैं और जो हमारी हिंसा की अभिलाषा करने वाले शत्रुओं की सेना एकत्रित कर संग्राम करने के लिये आते हैं, उन सबको तुम पराजित कर दूर भगाओ । हे राजन् ! तुमने सविता देवता की अनुकूलता

---

1. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
   तस्यमृत्युश्चरति राजसूय स राजा राज्यमनुमन्यतामिदम् ।।
   आ तिष्ठन्त परीविश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचि: ।
   महत् तद् वृष्णो असुरस्यनामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ।।अथर्व॰।।सू०।।39

2. अ०वे० 1/87/6: 1/128/6

प्राप्त की है,सोम भी तुम्हारे अनुकूल हुए हैं। सभी प्राणियों ने तुम्हारे प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट की है। इसलिए इस विषय में तुम सबके प्रिय हुए हो। राजा भी इसके उत्तर में अपना सामर्थ्य प्रकट करता है और वह कहता है कि विपक्षियों का निवारण कर मैं राज्य का अधिपति हो गया हूं। इस देश के सभी प्राणियों और राज्याधिकारियों का मैं स्वामी बना हूं।[1]

वैदिक ऋषियों ने सदा ही राजा की,प्रजा की समृद्धि की कामना के साथ-साथ राष्ट्र की समुन्नति की कामना की है। उनके राजा का राज्यत्व और प्रजा का वैशिष्ट्य तभी विशिष्ट है,जब उनका राष्ट्र सभी प्रकार सक्षम और सम्पन्न होवे। इसी भाव से वे यह अपेक्षा करते हैं कि उनके राष्ट्र में ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मण ज्ञान से सम्पन्न होवें। जिन क्षत्रियों को राष्ट्र की रक्षा में तत्पर होना है, वे क्षत्रिय शूरवीर होवें,शस्त्र-अस्त्रों के संचालन में उन्हें परम कुशलता प्राप्त होवे। वे राजा केवल शस्त्र-अस्त्रों के प्रयोग में ही कुशल न होवें अपितु सभी प्रकार की कलाओं में भी वे पारंगत होवें। उनमें ऐसी क्षमता होवे कि वे अपने शत्रुओं का नाश कर सकें और महारथी हों। ऐसे हमारे राष्ट्र की गौएँ अधिक दूध देने वाली होवें, बैल बलवान् हों, अश्व तेजी से दौड़ने वाले हों,स्त्रियाँ सर्वगुण सम्पन्न होवें,रथ पर चलने वाले योधाओं में विजय प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो। युवक निर्भीक होवें और उनमें सुशीलता होवे। जब जैसी आवश्यकता हो, तब वैसी वर्षा मेघ करें। औषधियाँ फूलें और फलें। इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती रहे तथा प्राप्त वस्तुयें

---

1. अभिभूत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
   अभि तन्यन्तं तिष्ठामि यो न हरिष्यति।।
   अभिता देव सविताभिः सोमो अवीवृधत्।
   अभित्वा विश्वाभूतान्यभीवर्तो यथाससि ।।
   ऋ० १०.१,पृ० 1887

सदा सुरक्षित बनी रहें ।[1] इस वर्णन में राष्ट्र की जिस सबलता और सम्पन्नता की आकांक्षा की गई है, वह अपने आप में वरेण्य है और श्रेष्ठतम राष्ट्र का श्रेष्ठतम रूप है । इस राष्ट्र निरूपण के माध्यम से जहाँ ऋषियों ने अपने राष्ट्र के लिये सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं और व्यक्तियों की कल्पना की है, वहीं पर अपने राष्ट्रिय भाव को भी व्यक्त किया है ।

राष्ट्र की महत्ता का और उसकी श्रेष्ठता का जो चित्र देवताओं के माध्यम से ऋषियों ने कल्पित किया है, वह इतना अधिक विशिष्ट गुणों से युक्त है कि सम्भवत: ही अन्य कोई राष्ट्र इस रूप में कल्पित किया गया हो अथर्ववेद में भारत भूमि के महत्व के संदर्भ में एक ऐसी ही कल्पना की गई है जिसमें कहा गया है कि यह पृथिवी, जो हमारी मातृभूमि है ब्रह्म, तप, सत्य यज्ञ, दीक्षा आदि धारण करती है । ऐसी यह भूत, भविष्य और वर्तमान की पालनकर्त्री हमारे लिये स्थान प्रदान करे । समुद्र, नदियों और जल से सम्पन्न पृथिवी जिसमें कृषि के द्वारा अन्न उत्पन्न किया जाता है और जिस पृथिवी में रहकर प्राणवान संसार तृप्त होता है, वह पृथ्वी हमें पय, रस आदि प्राप्त कराने वाली होवे । इतना ही नहीं वैदिक ऋषि ने पृथिवी की प्रार्थना करते हुये यह भी आकांक्षा की है कि जो पृथिवी पहले समुद्र के जल पर

---

1. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायताम्: आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु: सप्ति: पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा: सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्, निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय: पच्यन्ताम्, योगक्षेमो न: कल्पताम् ।। यजु०सं022/22

अवस्थित थी, विद्वान् श्रम करते हुए जिस पृथिवी पर निरन्तर विचरण करते हैं जिसका हृदय आकाश स्थल है तथा जिस पृथिवी में अमृत तत्व विद्यमान है वह पृथिवी हमें बल, तेज प्रदान करे और इस राष्ट्र को उत्तम रूप में अवस्थित करे अथवा इस राष्ट्र के लिये ये सभी उत्तम रूप से धारण करें ।[1]

राजा किस प्रकार से अपनी प्रजा के साथ अपने अनुचरों के साथ और अपने सैनिकों के साथ व्यवहार करे तथा वह किस तरह से अपने शत्रुओं का वध करके पृथिवी पर सुशासन स्थापित करे, इसका विस्तार से कथन वेदों में अनेकशः किया गया है । किन्तु यह कथन इन्द्र की स्तुतियों के संदर्भ में उन्हीं को राजा मानकर उपलक्षण के रूप में कहा गया है । जैसे यह कहा गया है कि राष्ट्रनायक का यह कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण प्रजा को समानरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे । जो उसके समक्ष जिस प्रकार का प्रस्ताव करे अथवा जिस प्रकार की प्रार्थना करे । उस सम्बंध में राजा भली प्रकार विचार करके अपना निर्णय करे। राजा को अपने पराक्रम का प्रदर्शन प्रत्येक अवसर पर करना चाहिये तथा उसे अपने सैनिकों और सेना नायकों की सुख सुविधा का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये । इन्द्र को प्रतीक बनाकर शासक के लिये जिन भावों को व्यक्त किया गया है उसके अनुसार यह कहा गया है कि जो इन्द्र हवि प्रदाता मनुष्यों के लिये उपभोग्य योग्य पदार्थों को देते है । वे हमें भी सभी प्रकार की सामग्री प्रदान करें । हे इन्द्र ! तुम्हारे पास अनन्त धन है, उसे बांट डालो । मैं भी तुम्हारे धन में अपना भाग प्राप्त करूं।

---

1. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
स नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।
यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्यां हृदयं परमं व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
स नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।। अथर्व [द्वि] पृ0 633-634

तुम अत्यंत धन वाले माने गए हो । तुम हमारी कामना पर ध्यान देते हुए हमारी रक्षा करो ।[1]

इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर इन्द्र के प्रतीक के द्वारा यह कहा गया है कि इन्द्र का सूर्यरूप बल आकाश में स्थित होता है और अग्निरूपबल पृथिवी पर स्थित होता है, जिसे यज्ञ के द्वारा प्राप्त किया जाता है, राष्ट्र के रक्षण में समर्थ होता है । उसी इन्द्र ने ही पृथिवी को विस्तृत किया है और उसी ने असुरों को मारकर आर्यों के बल और कीर्ति का विस्तार किया है ।[2]

और इसी प्रकार से अन्य अनेक संदर्भ दिखाई देते हैं जिनमें इन्द्र को प्रतीक बना राजा की सत्ता और राष्ट्र की महत्ता का आख्यान किया गया है । यह सभी कुछ ऋषियों के उसी मनोभाव को व्यक्त करता है जिसके अनुरूप ऋषि अपने राजा की श्रेष्ठता, उसकी बलवत्ता और उसकी अप्रतिम सौन्दर्य सत्ता को देखना चाहते हैं । इसी तरह से अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र के उत्कर्ष का कथन भी वे इस प्रकार से करते हैं जिस प्रकार से उनकी राष्ट्रिय भाव की अभिव्यक्ति अप्रतिम ढंग से होती है ।

---

1. यो अर्यो मर्तभोजनं परा ददाति दाशुषे ।
   इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु विभजा भूरितेवसु भक्षीय तव राधसः ।
   मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे ।
   विद्मा हि पुरुवसुमुप कामान्त्स सृज्महेऽथा नोऽविता भव ।।
   ऋक्‌[पू0] पृ0 160

2. वही, पृ0 198-199

भारती एवं भारतीयता :

वेदों में अनेक स्थानों पर इला, सरस्वती और मही-इन तीन देवियों को महनीयता के साथ स्मरण किया गया है ।[1] इन तीनों में से "इला" अर्थात् अपनी मातृभूमि, जिसे "इडा" भी उल्लिखित किया जाता है, सरस्वती अर्थात् अपनी संस्कृति और मही अर्थात् अपनी मातृभाषा में समझी जाती है।[2]

अब इस रूप में यदि हम देखें तो यह कहना संगत होगा कि वैदिक ऋषियों ने अपनी भारती अर्थात् वाणी के प्रति और सरस्वती अर्थात् अपनी संस्कृति, जिसे हम भारतीयता कह सकते हैं, के प्रति अत्यधिक आदर व्यक्त किया है तथा यह चाहा है कि इन दोनों की महनीयता कभी क्षीण न होवे । जब वेद ऋषि यज्ञ का आयोजन करते है और अन्यान्य देवों को इसलिये आहुत करते हैं कि वे सब आवें और उनके यज्ञ में कुशासन ग्रहण करें तब वे यह भी कहते हैं कि इला, सरस्वती और मही ये तीनों देवियां ऐसी हैं जो हमको सुख देने वाली है, इसलिये हम इन तीनों का आह्वान करते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि वे आवें और हमारे द्वारा दिए गए कुशासन पर बैठकर इसे ग्रहण करें ।[3]

ऋषि यह कहते हैं कि भारती अर्थात् हमारी देववाणी एक सामान्य भाषा नहीं है । इस भाषा को देवताओं ने स्थापित किया है । यह वाणी सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की प्रदाता होने के साथ साथ यज्ञों को सिद्ध करने वाली तथा परम पवित्र है । इसी तरह से सरस्वती जो हमारी संस्कृति स्वरूपा है, हमारे लिये महनीय और पवित्र है ।[4]

---

1. तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती भारती । महीगृणाना।
यजु० सं० 27/19

2. सं० श० कौ०, पृ० 217,852, सं० सा० रा० भा०, पृ० 79

3. इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ।
ऋ० [पु०], पृ० 48

4. शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती ।
इला सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः।। वही, पृ० 284

हमारी इला और सरस्वती ऐसी देवियां हैं, जो हमारे लिये यश प्रदान करने की आधार भी हैं। अर्थात् इला के द्वारा हम यश प्राप्त करते हैं और सरस्वती तो यश का आधार होती ही है। इसलिये इन दोनों को जब भी स्मरण किया जाता है, महनीय ढंग से ही स्मरण किया जाता है।[1]

वैदिक ऋषियों ने जब इला, सरस्वती और मही इन तीन देवियों का आहवान किया है तब यह कहा है कि इन तीनों देवियों का स्वरूप ऐसा है जिससे हमें यश प्राप्त होता है और जिसके लिये हम इनको बुलाते हैं। इन देवियों से वे यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे हमारे यज्ञ की प्रशंसा करती हुई इस कुशा पर विराजमान हों।[2] इन अपेक्षाओं के साथ ही वैदिक ऋषियों ने अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति अपना आकर्षण इस रूप में व्यक्त किया है जिस रूप में यह कहा गया है कि भारती अपनी भारतीयता के साथ देव और मनुष्यों में समान रूप से बनी रहे। हम सब भारतवासी उस देववाणी भारती को और उसी से अनुप्राणित भारतीयता को अपनी योग्यता, कर्मठता और सक्रियता से सदा अपने पास बनाये रखें।[3]

वेद में कहा गया है कि देवताओं के यज्ञ के सम्पादन करने के लिये यजमान सरस्वती का आहवान और पूजन करते हैं और वे सरस्वती इस प्रकार से यजमान की कामना की पूर्ति करती हैं। ऋषि इस सरस्वती की प्रार्थना करते हुये कहते

---

1. भारतीये सरस्वती या वः सर्वा उपब्रुवे।
   ता नश्चोदयत श्रिये ।। वही, पृ० 358

2. तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती मही भारती गृणाना।
   अथर्व [पू०], पृ० 244

3. आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
   सरस्वती सारस्वतेभिर्वाक्तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ।। ऋ०वे० 7/2/8

हैं कि तुम पितरों के साथ रथ पर चढ़कर आगमन करो और प्रसन्नता पूर्वक दुग्धादि का उपभोग। हमारे यज्ञ में आकर आरोग्य और अन्न प्रदान करो। हे सरस्वती! यज्ञ स्थान में दक्षिण की ओर बैठे हुए पितर तुम्हारा आह्वान करते हैं। इस यज्ञ को सम्पादित करने वाले यजमान के लिए तुम दिव्य धन और श्रेष्ठ अन्न उत्पन्न करो।[1]

यहाँ पर सरस्वती अर्थात् भारतीयता की प्रतिरूपिणी संस्कृति का जिस रूप में संकेत किया गया है वह भारत की यज्ञिय संस्कृति है और इसीलिए इसका आह्वान यज्ञ के माध्यम से किया जा रहा है तथा यह पितरों के साथ आती है और परम्परा से हमें प्राप्त होती है। यह सभी प्रकार से अनुपालक यजमानों को सम्पन्न करती है।

इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह वर्णन आता है कि बृहस्पति जब पदार्थ का प्रथम नाम करण करते हैं तो यह उनका ज्ञान सरस्वती की कृपा से ही उत्पन्न होता है, वहाँ पर एक उदाहरण दिया गया है कि जैसे सत्तू को सूप से शुद्ध करते है। उसी तरह से मेधावी जन अपने बुद्धि बल से शोधित भाषा का प्रयोग करते हैं। इसीलिए इनकी वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी का निवास होता है।[2]

1- सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे।।
सरस्वती यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घ मिलो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि।। ऋ0 ऋ0 1,पृ0 1565

2- वही,पृ0 1694

राष्ट्रिय एकता के भाव :

वैदिक ऋषियों के मन में अपने राष्ट्र के प्रति इतनी अधिक सदिच्छा है जिसका अनुमान वही कर सकता है जो पूरी तरह से राष्ट्रियभाव से भरा हुआ हो। वे सदा यह चाहते हैं कि ज्ञान, विज्ञान , शिक्षा, संस्कृति, धर्म , दर्शन और जन-समूह के सद्भाव तथा ऐक्य के भावों से उनका राष्ट्र ऐसा अनुपम और अखण्ड रहे जैसा अन्य कोई दृष्टिगत ही न हो। वे इस राष्ट्र की भौतिक भिन्नता में भी आन्तरिक अभिन्नता की ऐसी अनुभूति कराते हैं जैसी सामान्यत: अलभ्य है। उदाहरण के लिए वे ब्राह्मण , क्षत्रिय, वैश्य , शूद्र के रूप में पृथक्-पृथक् बटे हुए समाज की उत्पत्ति को उस एक अव्यक्त शक्ति से जन्य मानते हैं जो इस सम्पूर्ण संसार में अनुस्यूत है।[1] इससे हम पृथक्-2 रूप में दिखते हुए भी एक होने की अनुभूति कर सकते हैं।

अथर्ववेद में वैदिक ऋषि की विभिन्न देवताओं से प्रार्थना इसलिए है कि वे सभी मिलकर आवें और हमारे राष्ट्र की महत्ता की स्थापना में अपना अपूर्व योगदान करें। इसी दृष्टि से वे कहते हैं कि मृत्यु से रक्षा करने में समर्थ और मित्रवत् उपकारी देवता वसन्तादि ऋतुओं से हमको दीर्घायु करें। फिर वरुण, वायु और अग्नि हमें महान् राष्ट्र में प्रतिष्ठापित करें। इसी एक राष्ट्रिय भाव के साथ-साथ वे कहते हैं कि कोई भी अपने मन, विचार और कर्म को परस्पर भिन्न न रखें। सभी एक दूसरे मन, चित्त और कर्म को समान करें और जो इसके प्रतिकूल चलने का प्रयत्न करें उन्हें हमारा "साम" अर्थात हमारी समता ही नियमित करें।[2] इस प्रकार से, इन विचारों के माध्यम से वे देवताओं के द्वारा भी

1- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।
उरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। ऋक् [10], पृ0 1745

2- आयातु मित्र ऋतुभि: कल्पमान: सं वेशयन् पृथिवीमुस्त्रियाभि:।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ।।
सं वो मनांसि संव्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्व: सं नमयामसि।। अथर्व [पृ0], पृ092

यह अपेक्षा करते हैं कि देवगण सभी राष्ट्रवासियों को सभी कुछ प्रदान करें और यह भी अपेक्षा करते हैं कि हम सभी के मन, चित्तादि ऐसे ऐक्यभाव से बंधे हों जिससे हमारी एकता सुदृढ़ रहे।

इतना ही नहीं, ऋषि तो प्रकृति के उपादानों में भी एकता के दर्शन करते हैं और उसी एकता से प्रभावित होकर अपनी सभी की एकता की कामना करते हैं वे कहते हैं कि सभी नदियाँ हमारे अनुकूल होकर बहें, वायु भी हमारे अनुकूल होवें। पूर्व में सभी देवता हमारे इस यज्ञ में आवें। क्योंकि मैं संगठित होकर ही घी, दूध, दूर्वा आदि से यज्ञ कर रहा हूं। आप सभी मेरे आवाहन पर एक साथ मिलकर आओ और प्रसाद रूप में इस यजमान को प्रजा, पशु, धन, धान्यादि से परिपूर्ण करो। नदियों के जो अक्षय स्रोत ग्रीष्मादि में कभी क्षीण नहीं होते हैं और सदा संगठनबद्ध होकर रहते हैं, उन सबसे भी हम पशु, धन, धान्यादि प्राप्त करते रहें।[1]

इसी तरह से ऋग्वेद के उन मंत्रों को यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा जिनमें सभी के लिए समानरूप से साथ-साथ चलने, साथ-साथ बात करने का आह्वान किया गया है। वहाँ कहा गया है कि हे स्तुति करने वालो ! तुम एकत्रित होओ, तुम समान रूप से स्तोत्रों का उच्चारण करो, तुम समान मन वाले बनो। जिस तरह से देवगण समानमति वाले होकर यज्ञ में उपस्थित होकर

1- सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषाजुहोमि।।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः।।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।। अथर्व [प्र0], पृ0 23

हविष्यान्न ग्रहण करते हैं, उसी तरह से ही तुम भी समान मति वाले होकर धन आदि ग्रहण करने वाले बनो। इन स्तोताओं के स्त्रोत समान होकर एक साथ यहाँ आवें। इन सभी के मन एक समान हों। हे पुरोहितों! मैं तुम सबको समान मन्त्र से अभिमन्त्रित करता हुआ साधारण हवि द्वारा तुम्हारा यज्ञ करता हूं। हे यजमानो और पुरोहित! तुम सभी का कर्म समान होवे। तुम्हारे हृदय और मन भी समान होवें। तुम सभी समान मति वाले होकर सभी प्रकार से सुसंगठित होओ।[1] इस प्रकार से इस उद्बोधन में ऋषियों ने देवताओं की एकता का उदाहरण देकर सभी प्रजाजनों ,जिनमें यजमान यज्ञकर्ता और पुरोहित आते हैं, का आह्वान किया है कि वे सभी मन से , कर्म से एक रहें और इसी एकता से अपने लिए सभी कुछ प्राप्त करें। यह इसलिए क्योंकि एकता से सभी कुछ प्राप्त होता है।

इसी प्रकार का स्वर अथर्ववेद में भी दृष्टिगत होता है। वहाँ पर भी महर्षि अथर्वा ने यह आह्वान किया है कि जैसे इन्द्रादि देव एक ही कार्य का ज्ञान रखते हुए द्रव्य आदि प्राप्त करते हैं उसी तरह तुम भी विद्वेष रहित इच्छित-फल की प्राप्ति करो। तुम्हारा मन एक रूप रहे, जिससे सभी कार्य सुंदर ढंग से सम्पन्न होवें।[2] इसी भाँति का एक अन्य विचार यह व्यक्त किया गया है कि यह देश अनेक भाषा बोलने वालों का देश है। इस देश में अनेकों धर्मों को धारण करने वाले लोग रहते हैं। फिर भी यह गृह की भाँति है जिसमें मुझे सहस्त्रों

- -

1- संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
....
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।। वही,पृ0 1899

2- वही [पृ0], पृ0 296

धाराओं से धन प्राप्त होवे। ऋषि कहते हैं कि यह उसी तरह से हो जैसे गौ से सहस्त्रधारा वाला दुग्ध दोग्धा को प्राप्त होता है।[1] इस रूप में हम ऋषि की जिस भावाभिव्यक्ति का दर्शन करते हैं, वह यह संकेत करती है कि भाषा और धर्म अनेक हो सकते हैं तथा प्राचीनकाल से ही इनमें अनेकता रही है किन्तु इस अनेकता का अर्थ कभी भी विखण्डन नहीं होता है। भाषा और धर्म के अनेक होने पर भी इस राष्ट्र का ऐक्यभाव हो सकता है और उसी एकता के स्वर को ऋषियों ने प्रमुखता से व्यक्त किया है।

महत्वपूर्ण स्वर तो यह है जिसमें कहा गया है कि हे मातृभूमि! तुम पर जन्म लेने वाले प्राणी तुम्हारे ऊपर घूमते हैं, तुम जिन पशुओं और मनुष्यों का पोषण करती हो, उन्हें सूर्य जीवन भर अपनी रश्मियों से सभी पदार्थों को प्राप्त करावे। हे पृथिवी! पञ्चजन भी तुम्हारे ही हैं।[2]

विश्लेषण:

इस प्रकार से वेदों में स्पष्टरूप से यह देखा जा सकता है कि इसमें राष्ट्रिय एकता के स्वर मुखर होकर उभरे हैं। इसमें वर्ण, जाति, भाषा और धर्म की भिन्नता होते हुए भी इनमें एकता की कामना की गई है और हर स्थिति में उसे बनाए रखने के लिए उद्बोधित किया गया है।

1- जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्व[वे0], पृ0641

2- त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पद:।
तवेमे पृथिवी पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ।। वही, पृ0 636

स्व-मंगल तथा सर्व मंगल की भावना-

वैदिक ऋषि जहाँ एक ओर स्वमंगल की कामना से सभी देव-देवों से प्रार्थना करते हैं, वहीं पर उनके मन में विश्व-प्राणियों के प्रति भी सद्भाव ही है। जैसे वे सोम देवता से यह कहते हैं कि हे सोम! हमारे लिए जल को आनन्ददायक करो। हमें अपत्ययुक्त धन प्रदान करो। स्तुति करने वालों की आयु में वृद्धि करो।[1] इसी तरह से वे सोम से ही कहते हैं कि तुम अपने तेज से अन्धकार को मिटाओ। क्योंकि तुम सत्य धारण करने वाले श्रेष्ठ रस का आधान करते हो।[2] इसी भाँति से वैदिक ऋषियों ने स्व के लिए यह इच्छा की है कि वे सौ वर्षों तक अच्छी तरह से देख सकें, सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक बोलें, सुनें, स्वाभिमानी रहें और ज्ञान प्राप्त करते रहें।[3] इससे उनका राष्ट्र मंगलमय बनेगा और वे सभी मंगल की अनुभूति करेंगें।

जहाँ तक सर्व मंगल की कामना का प्रश्न है तो उस दृष्टि से भी ऋषियों का विचार बहुत श्रेष्ठ और उदार है। वे सम्पूर्ण वसुधा को एक मानते हैं और यह कहते हैं कि हे वसुधे! तू सम्पूर्ण विश्व की महानिवास स्थान है। तुम्हारा वेग, तुम्हारी हलचल और तुम्हारा कम्पन महान है। इसलिए हमें सभी के लिए रुचिर बनाओ और हमसे कोई द्वेष न करे।[4]

1- नूनो रयिमुमास्व नृवन्त पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् ।
प्रवीन्दवुरिन्दो तार्यायु: प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यताम्।। ऋक्०९०पृ०४८२

2- वही , पृ०५१०

3- ऋग्वेद० 7/66/16; यजु० सं० 36/24

4- महत् सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महास्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् । सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव ।
संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ।। अथर्व ९६०९,पृ०६३८

इसी प्रकार सम्पूर्ण पृथिवी के मनुष्यों और जीव-जन्तुओं में वे वह ओज और सौन्दर्य देखते हैं जो सभी को ओजस्वी किये हुए है। इसीलिए कहा गया है कि जो गन्ध पुरुषों में व्याप्त है,जो तेरी कान्ति और ओज नर तथा नारियों में व्याप्त है,जो ओज वीरों,तुरंगों,मृगों मतंगों में व्याप्त है।उससे हमें युक्त कर और हम से कोई द्वेष न करें।[1]

निष्कर्ष :-

इस रूप में स्व और पर का भेद न करके ऋषियों ने सर्व के लिए मंगल की कामना करते हैं और इसी भावना के माध्यम से वे राष्ट्रिय भाव का प्रस्तुतीकरण करते हैं जिसमें सभी प्रकार की इच्छापूर्ति में किसी का भेदभाव न करके सभी को समाहित करते हैं। वैदिक ऋषियों का यह दृष्टिकोण न केवल देवताओं से प्रार्थना करके अपनी इच्छापूर्ति करने तक में ही सीमित है।अपितु मातृभूमि,पर्वत ,नदी,भाषा ,धर्म, ग्राम और जनपदों तथा इन सबके निवासियों के साथ-साथ जीव-जन्तुओं के प्रति भी उनका अपनत्व का भाव प्रकट है और इस रूप में वे एक राष्ट्र की परिकल्पना की यथार्थता को स्वर देने के साथ उसके निवासियों में ऐक्य का प्रदर्शन करते हैं, यही उनका राष्ट्रियभाव है।

1- यस्तेगन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः। यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि संसृज मा नो द्विक्षत कश्चन।।
वही, पृ0637-638

तृतीय अध्याय

(प्रमुख पुराण और उनका संक्षिप्त परिचय)

तृतीय अध्याय

॥ प्रमुख पुराण और उनका संक्षिप्त परिचय ॥

पुराण शब्द का शाब्दिक विश्लेषण, पुराण संरचना की पृष्ठभूमि, पौराणिक उद्भव, समय एवं रचयिता, वक्ता अथवा सूत, पुराणों की संख्या, पुराण-वर्गीकरण, पुराणों में वर्णित विषय, पुराण - संरचना का उद्देश्य, पुराण परिचय ,वायु पुराण, ब्रह्मपुराण , पद्म पुराण, विष्णु पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिङ्ग-पुराण , वाराह पुराण, स्कन्द पुराण ,वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण।
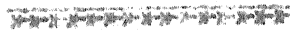
प्रमुख पुराण और उनका संक्षिप्त परिचय

पुराण शब्द का शाब्दिक विश्लेषण

पुरा अव्ययपूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से ड प्रत्यय करने के बाद टिलोप और णत्व कार्य करने पर पुराण शब्द सिद्ध होता है। अथवा पुरा भव: इस विग्रह में पुरा अव्यय से "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट्च" सूत्र से ट्यु प्रत्यय होने के बाद टकार की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के बाद "युवोरनाकौ" से"यु" का "अन्" तथा "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" से णत्व कार्य कर पुराण शब्द निर्मित होता है। इसी के साथ ही "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला: समानाधिकरणेन" सूत्र से "तुट्" प्रत्यय का अभाव हो जाता है। नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने से यह शास्त्र के विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है। अथवा "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" सूत्रनिर्देश से निपातनात् पुराण शब्द बनता है।[1]

पुराण शब्द के व्यवहार से इस प्रकार की ध्वनि निकलती है कि इस वाङ्मय में नवीन प्रवृत्तियों का समाहार होते हुए भी इनमें प्राचीन परम्परा के सन्निवेश पर अधिक बल दिया जाता है। "पुरा विद्यते इति पुराणम्"- वायु पुराण की इस पंक्ति के आधार पर पुराकाल में विद्यमान होने से इन्हें पुराण कहा जा सकता है।[2] पद्मपुराण " पुरा" शब्द का अर्थ "परम्परा" के रूप में संकेतित करता है जिससे यह अभिप्राय सहज में ही स्वीकार किया जा सकता है कि जिस साहित्य में परम्परा का निबन्धन हो, वह साहित्य पुराण साहित्य है।[3]

---

1. पु0 मी0, पृ0 38
2. वही, 1/203, म0 पु0, पृ0 219
3. वही, 5/2/53

जिन ग्रन्थों में यह अभिमत संकेतित किया जाए कि" प्राचीन काल में ऐसा हुआ था"- ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार वे ग्रन्थ पुराण संज्ञक ग्रन्थ हैं।[1]आचार्य यास्क ने निरुक्त में-"पुरानवं भवति" कह कर पद्मपुराण के अभिमत को ही अपना अभिमत बनाया है और यह मत व्यक्त किया है कि पुराण साहित्य में "पुरा" को अर्थात् परम्परा को नवीन रूप प्रदान किया जाता है।[2]आचार्य पण्डित बल्देव उपाध्याय जी ने अनेक प्राचीन सन्दर्भ देकर यह प्रतिपादित किया है कि पुराण शब्द का अर्थ प्राचीन अथवा पूर्वकाल में होने वाला ही सकता है।[3]एक विद्वान् पुराणों में दिए गए "इति नः श्रुतम्","इति श्रुतः;" "इति श्रूयते;" जिनका अर्थ होता है-ऐसा सुना गया है, ऐसा सुनते हैं; पदों के आधार पर यह मत व्यक्त करते हैं कि इनसे वर्णनीय विषय की प्राचीनता के प्रति पौराणिकों का संकेत मिलता है।[4] और इस रूप में पुराण शब्द का शाब्दिक अभिप्राय यही निकलता है कि ये वे ग्रन्थ हैं जिनमें परम्परा का निर्वाह होता है और उसे नवीन रूप देने का प्रयास भी। साथ ही पुराण ग्रन्थों की विषय वस्तु प्राचीन होने से इनसे प्राचीनता का भी अवबोध होता है। और इस प्रकार विशेषण के रूप में पुराण शब्द का अर्थ है- पुरातन, पुराना या प्राचीन। संज्ञा के रूप में "पुराण" का बोध पुरातन आख्यानों से संयुक्त ग्रन्थ के रूप में किया जाता है जिनमें रूपकात्मक एवम् तथ्यात्मक पुरावृत्त संगृहीत हैं।[5]

1• वही, 1/1/176

2• वही, 3/19

3• पु0 वि0, पृ0 5

4• हरि0 पु0 सां0 अ0, पृ0 1

5• पु0 स0, पृ0 4

पुराण संरचना की पृष्ठभूमि

पुराण शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल में वेद तथा वेदाङ्ग साहित्य में किसी न किसी रूप में दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद में "पुराण" शब्द और "पुराणी"[1] शब्द उल्लिखित हैं। अथर्ववेद में भी "पुराण" तथा "पुराणवित्" शब्दों का उल्लेख है।[2] ब्राह्मणग्रन्थ, स्मृतियाँ तथा अन्य प्राचीनग्रन्थों में भी पुराणों का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर अब मैं सनातन पुराणों का अध्ययन करता हूँ का निर्वचन हुआ है-"सनापुराणमध्येरात्।" इसी में अन्य एक स्थान पर अश्विनीकुमारों को संबोधित कर कथन है कि आप दोनों का स्थान पुराण है। आपकी मित्रता से बहुत कल्याण होता है-"पुराणमोक: सख्यं शिवं वाम्।[3] अथर्ववेद कहता है कि व्यास के रूप में उत्पन्न होकर सर्वाश्रय ईश्वर ने जिन पुराणों को लेखबद्ध किया उनको परमात्मा का अनुकूल वर्णन करने वाला जानों।[4]

इसी भाँति शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द का उल्लेख है/एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ के नवम दिन कुछ पुराण का पाठ किया जाना चाहिए- " अथ नवमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत्।" दूसरे स्थान पर यह कहा है कि वाकोवाक्य इतिहास और पुराण का प्रतिदिन पाठ करना चाहिए, जो ऐसा जानता हुआ इनका पाठ करता है वह देवताओं को तृप्त करता है-"स य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।"[5]

---

1. ऋ0 वे0 3/6/49 ; 10/130/6 ; 9/99/4
2. अ0 वे0 11/7/27 ; 11/6/7
3. ऋ0 वे0 3/58/6
4. यत्रस्कम्भ: प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।
   एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनु संविदु:।। अ0 वे0 11/7/25
5. वही 11/5/7/9

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सनत्कुमार के पास अध्ययनार्थ जाने पर और उनके द्वारा प्रश्न किए जाने पर नारद जी ने कहा था कि भगवन् ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और पाँचवे वेद इतिहासपुराण का अध्ययन किया है-

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।"[1] इसी तरह से बृहदारण्यक उपनिषद् में यह संकेत है कि जिस प्रकार जलती हुई गीली लकड़ी से धूम निकलता है उसी प्रकार ईश्वर से स्वांसत्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इतिहास पुराण प्रकट हुए- "स यथा र्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास: पुराणं विद्या उपनिषद: श्लोका: सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"[2]

इसी प्रकार से अनेक स्मृतियों में भी पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे उशन: स्मृति में यह कथित है कि आचार्य एक संवत्सर तक शिष्य की परीक्षा कर लेने के बाद उसे वेद, धर्मशास्त्र, पुराण तथा अन्य तन्त्रों का उपदेश करे।[3] इसी प्रकार से एक अन्य स्मृति में संकेत है कि श्राद्ध के समय वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास पुराण और खिल सुनाना चाहिए।[4] संस्कृत का आदि काव्य वाल्मीकि रामायण भी पुराण शब्द से परिचित है और बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में पुराण शब्द का उल्लेख किया गया है।[5]

- -

1. ई० द्रा० उ०, पृ० 225
2. वही, पृ० 307
3. वही, 4/34
4. म० स्मृ० 3/232
5. वा० रा० बालकाण्ड 9/1- ; अयो० काण्ड 16/1

महाभारत में तो यह कहा ही गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों का विस्तार करना चाहिए; क्योंकि अल्पज्ञ से वेद डरता है कि अनर्थ करके यह मेरी हत्या न कर दे।[1]अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि वाकोवाक्य, इतिहास,पुराण और वैद्यक ये सब शब्दप्रयोग के विषय हैं- "वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येताव-च्छब्दस्य प्रयोग विषयः।"[2]शुक्रनीति-कार जहाँ सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर के माध्यम से पुराण का लक्षण करते हैं वहीं यह कहते हैं कि धर्म का तत्त्व अति गहन है इसलिए बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह सत्सेवित श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित कर्मों का ही पालन करे।[3]आचार्य कौटिल्य ने भी कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुराणों का संकेत किया है और पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास तथा आख्यायिका, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र को इतिहास शब्द में समाहित किया है।[4]

उपरि उल्लिखित समस्त उद्धरणों के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि पुराणों की कथा के बीज अत्यन्त प्राचीनकाल में उपलब्ध हैं और वे धीरे२विकसित होकर ग्रन्थों के रूप में ग्रथित होते रहे हैं। यद्यपि वेदोत्तर काल में ही पुराण ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किए गए किन्तु उनके आख्यानों के बीज प्रा प्राचीन काल मे विद्यमान थे। विण्टरनित्ज ने अपना यह मत दिया है कि वेदों और पुराणों में आख्यानों की समरूपता होते हुए भी इनमें अनुवर्ती विकास परम्परा निहित है।[5]

1• इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

2• वही० पस्पशाह्निक 1/1/1

3• शु० नी० 4/264 ; 3/38

4• वही०, पृ० 19

5• हि० इ० लि० भाग 1 , पृ० 518

पौराणिक उद्भव ; समय एवम् रचयिता

पुराण संरचना की पृष्ठभूमि के क्रम में यह संकेत हो चुका है कि पुराण कथा के बीज वैदिककाल में विद्यमान थे, किन्तु ग्रन्थ रूप में उनका स्वरूप बाद में अस्तित्व में आया। अथर्ववेद में पुराणवित् शब्द पर विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि सम्भवत: यह शब्द पुराणों के ज्ञाता मनीषियों की ओर संकेत करता है जिन्होंने इस प्रकार के साहित्य-प्रणयन और पल्लवन की ओर प्रयास किया होगा।[1]

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य किसी न किसी रूप में पुराण शब्द का उल्लेख करता है और संकेत मिलता है कि भले ही ग्रन्थों के रूप में पुराणों का अस्तित्व न रहा हो किन्तु कथानकों के संकेत के रूप में पुराणों का अस्तित्व अवश्य माना जा सकताहै। शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द स्वतन्त्र रूप से और इतिहास के साथ सम्मिलित रूप से उल्लिखित है।[2] गोपथ ब्राह्मण में चारों वेदों के उद्भव के साथ-साथ ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास एवम् पुराण के उद्भव का संकेत है-"एवमिमे सर्वे वेदानिर्मिता: सकल्पा: सरहस्या: सब्राह्मणा: सोपनिषत्का: सेतिहासा: सान्वाख्याता: सपुराणा:।[3]इस आधार पर यह विचार व्यक्त करना संगत हो सकता है कि तत्कालीन समय में वेद-वेदाङ्गों के साथ ही पुराण की उद्भव- स्थिति भी हो सकती है।

1• पु0 सा0, पृ0 34-35

2• वही 13/4/3/12-13 ; 11/15 1719 ; 14/6/10/6

3• वही, पूर्वभाग 2/10

एक विद्वान का यह अभिमत है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि इस काल में इतिहास तथा पुराण की पृथक्-पृथक् धारायें थीं और दोनों में वर्ण्य-विषय की दृष्टि से या कि वर्णन शैली की दृष्टि से अन्तर अवश्य था।[1] तैत्तरीय आरण्यक[2] एवम् बृहदारण्यकोपनिषद्[3] तथा छान्दोग्योपनिषद्[4] स्पष्ट रूप में पुराणों का उल्लेख इस रूप से करते हैं जैसे अन्य ग्रन्थों की ही भाँति पुराणों का पृथक् संकलन ग्रन्थरूप में उपलब्ध हो।

कतिपय स्थानों पर धर्मसूत्र भी पुराणों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यत्र-तत्र उनमें पुराणों का उल्लेख है। जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र में पुराण के अध्ययन करने को महत्व दिया गयाहै और यह संकेत किया गया है कि जो पुराणों का अध्ययन विधिपूर्वक करता है वह अमरत्व प्राप्ति का पात्र बनता है।[5] इसी में एक अन्य स्थान पर संकेत है कि पुराण पाठ करते हुए यज्ञ की अग्निदीप्त होना मंगल का प्रतीक है- "तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मतां कथाः कीर्तयन्तो मांगल्यानीतिहासपुराणानीत्याख्यापयमाना।"[6] इसी प्रकार से गौतम् धर्मसूत्र में न्याय कार्य में प्रामाणिक साक्ष्यग्रन्थों के रूप में अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ पुराणों को भी उपयोगी कहा गया है।[7]

उल्लिखित उदाहरणों के आधार पर यदि पुराणों के आदि उद्भव पर विचार किया जाए।

---

1. पु० स०, पृ० 35
2. तै० आ० 2।9
3. बृहद० 2/4/11
4. छान्दो० 7/1/4
5. आ० गृ० सू० 3/4 ; 4/6
6. वही०, 4/6
7. वही 11/19

तो हमें यह दृष्टिगत होता है कि धर्मसूत्रों तक पुराणों का उल्लेख जिस रूप में होने लगा था, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तब तक अर्थात् सूत्र-काल तक पुराणों का प्रणयन और संकलन प्रारम्भ हो चुका था* सूत्रकाल प्राय: ईसा पूर्व की पाँचवी अथवा छठवीं शताब्दी माना जाता है,[1] अतएव पुराणों का विधिवत रचना समय भी यही कहा जा सकता है। यद्यपि एक मत यह भी है कि पुराण का उदय तो बहुत पहले हो चुका था किन्तु इसे साहित्यिक रूप बाद में प्राप्त हुआ।[2] एक विद्वान डा0 हाजरा का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना के पहले ही सम्भवत: एकाधिक पुराणों की रचना हो चुकी थी।[3] इसी तरह से पं0 बल्देव उपाध्याय जी ने अपना मत व्यक्त करते हुए यह अनुमानित किया है कि उल्लिखित धर्मसूत्र की रचना के समय में कम से कम एक पुराण की रचना हो चुकी थी।[4]

महाकाव्य परम्परा में वाल्मीकि रामायण को आदि काव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। यदि वाल्मीकि रामायण को इस दृष्टि से आलोकित किया जाए कि इसमें पुराणों के सन्दर्भ किस रूप में प्राप्त हैं तो हमें एक स्थान पर यह प्राप्त होता है कि सुमन्त को न केवल पुराणवेत्ता कहा गया है अपितु सूत होने के कारण उन्हें पौराणिक पुरावृत्तों का ज्ञाता भी बताया गया है।[5]

1• पु0 सा0, पृ0 37 ; वै0 सा0 इ0; पृ0 243 ;

2• ह0 पु0 सां0 अ0, पृ0 11

3• स्टडीज इनद उपपुराणाज भाग 1, पृ0 2

4• पु0 वि0, पृ0 19

5• वही, पृ0 482 ; 118 ; 488

महाभारत ग्रन्थ में तो अनेकशः पुराणों का उल्लेख किया गया है और यह कहा गया है कि इस महाकाव्य की रचना व्यास ने महापुराणों की रचना के उपरान्त की है।[1] इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह निरूपित है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र के द्वारा श्रुति रूपी चन्द्रिका विकीर्ण की गई है- "पुराण पूर्णचन्द्रेण श्रुति ज्योत्स्ना प्रकाशिता।"[2] महाभारत में वर्णित जनमेजय के नाग-यज्ञ के आख्यान को वायु पुराण से लिया हुआ कहा जाता है। हापकिंस ने वायु पुराण में वर्णित इस आख्यान को महाभारत के आख्यान से प्राचीन माना है।[3] यद्यपि महाभारत के सन्दर्भ में उल्लिखित इन प्रमाणों पर कुछ विद्वान् अपनी विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।[4] तथापि महाभारत के अन्तिम अंश के सम्पादन काल तक, जो लगभग चतुर्थ शती ईसवीय तक का है, पुराणों का प्रणयन हो चुका था।[5]

ईसा पूर्व की तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में विरचित[6] प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी इतिहास के अन्तर्गत गणना करते हुए पुराण की चर्चा की गई है और यह कहा गया है कि राजा दिन के दूसरे भाग को इतिहास सुनने में लगावे "पश्चिममितिहास श्रवणे" पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थ-शास्त्रं चेतीतिहासः।[7] इसी प्रकार से यह भी उल्लेख प्राप्त है कि सामुद्रिक, नैमित्तिक, मौहूर्तिक, पौराणिक, सूत, मागध और पुरोहित आदि को एक हजार पण वेतन देने के उल्लेख में पौराणिकों के महत्त्व का संकेत प्राप्त है।[8]

- -

1. वही, 18/5/95
2. वही आदि पर्व 1/86
3. द ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, पृ0 48
4. ए0 हि0 सं0 लि0, पृ0 299 ; इ0 हि0 क्वा0, भाग8, पृ0 761
5. स्ट0 एपि0 पुरा0, भू0 पृ0 31
6. कौ0 अ0, भू0 पृ0 63; पु0 स0, पृ0 39
7. कौ0 अर्थ0, पृ0 19 ;
8. वही, पृ0 513

पुराणों का उल्लेख स्मृतियों में भी अनेकशः किया गया है।[1] मनुस्मृतिकार पितृश्राद्ध के समय वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराणादि के सुनने के विधान का निर्देश करते हैं-

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ।।

इसी भाँति व्यासस्मृतिकार द्विज वर्णों के लिए यह निर्देश करते हैं कि उन्हें चाहिए कि वे पौराणिक धर्म के अनुकूल अपना जीवन यापन करें।[2] उनके इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि पौराणिक धर्म वेद, स्मृति-निरूपित धर्म के सदृश ही महत्वपूर्ण है। याज्ञवल्क्य स्मृति में अध्येय चौदह विद्याओं में से पुराण-विद्या को प्रथम स्थान दिया गया है और पुराण-श्रवण को देव एवं पितृ-भक्ति के लिए उपयोगी कहा गया है एवम् उनके नियमित पारायण पर बल दिया गया है।[3] शुक्रनीति यह संकेत करती है कि राजाओं के राजकीय कार्यों के निष्पादन में पुराणवेत्ताओं की योग्यता और उपादेयता असंदिग्ध होती है। पुराणवेत्ता को पुराणों के आख्यानों के ज्ञान के अतिरिक्त साहित्य, संगीत आदि विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए-

साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः ।
सर्गादिपञ्चकज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः ।।[4]

---

1. वही, पृ० 124
2. वही 1/5
3. वही, पृ० 46
4. शु० नी०, पृ० 83

शुक्रनीति में ही जहाँ पर विद्याओं और कलाओं की संख्या का वर्णन आता है वहाँ पर विद्याओं में पुराण को एक विद्या के रूप में गिना गया है। इतनाही नहीं, सर्ग, प्रतिसर्ग के रूप में यह स्मृतिकार स्पष्ट रूप से पुराण का लक्षण भी देता है।[1]

गद्यसाहित्य के अप्रतिम आचार्य बाण की रचनाओं में भी पुराणों की प्रसिद्धि का संकेत प्राप्त होता है। क्योंकि बाण का समय लगभग सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है,[2] इसलिए यह प्रतीत होता है कि तब तक पुराण साहित्य पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। कादम्बरी के जाबालि आश्रम वर्णन में "पुराणेषु वायुप्रलपितम्" कहकर वायु पुराण का संकेत तो स्पष्ट है; जबकि इसी ग्रन्थ में राजकुलवर्णन के सन्दर्भ में भी पुराण का उल्लेख है।[3] इसी प्रकार से हर्षचरितम् में भी वायु द्वारा प्रोक्त पुराण के रूप में वायु पुराण का संकेत दृष्टिगत होता है। और इसी क्रम में मुनि व्यास द्वारा गाए पुराणों की प्रतिष्ठा का संकेत भी मिलता है।[4]

अन्य आचार्यों में कुमारिलभट्ट ने,[5] जो सप्तम शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं, जैमिनिसूत्र में पुराणों के स्वरूप, वर्ण्य-विषय तथा प्रामाण्यादि का विवेचन किया है।[6]

- -

1. वही, पृ0 225 ; 229
2. का0 क0 , भू0, पृ0 20
3. वही, पृ0 128 ; 281
4. वही, पृ0 146 ; 147
5. मी0 पृ0, पृ0 6
6. वही, 1/3/1 ; 1/3/30

आचार्यशङ्कर पुराणों के श्लोकों का उद्धरण देकर यह संकेत करते हैं कि वे पुराण से परिचित हैं। वे पुराण और स्मृति को समानार्थक मानने का भी संकेत करते हैं। अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त इन पुराण- परिचय-संकेतों के साथ-साथ ईसवीय की प्रारम्भिक शताब्दियों में पुराणों की रचना एवं उनके व्यापक प्रभाव की सूचना गुप्तकालीन तथा गुप्तोत्तरकालीन अभिलेखों से भी प्राप्त होती है। इनमें ब्रह्म पुराण, भविष्य पुराण, पद्मपुराण तथा गरुड़पुराणों के उद्धरण उत्कीर्ण किए गए हैं।[1]

उल्लिखित उद्धरणों के आधार पर यदि यह निर्णय करना पड़े कि पुराणों के रचना का निश्चित समय क्या है और किस पुराण की रचना सर्वप्रथम की गई होगी, तो ऐसा निर्णय कर पाना एक कठिन कार्य होगा। ऐसी कठिनता इसलिए है क्योंकि पौराणिक साहित्य आख्यान परक है और इस साहित्य की विषय वस्तु विवरणात्म अधिक है जो परम्परागत रूप से प्राचीन समय से इस देश में चलती रही है। पुराण साहित्य का जितना विशाल कलेवर है,वह न तो किसी कृमबद्धता के साँचे में फिट किया जा सकता है और न ही उसे किसी एक काल के कृम में निरूपित किया जा सकता है। फिर भी, इतना अवश्य निरूपित् किया जा सकता है कि बाणभट्ट की कृतियों में वायुपुराण की सामाजिक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा का जो संकेत है।[2] तदनुसार यह पुराण सम्भवतः सर्वाधिक प्राचीन पुराण है। जैसा कि एक विद्वान् ऐसा स्वीकार करते हैं।[3]

1• ज0 रा0 ए0 सो0 [1912] पृ0 248-255

2• कादम्बरी, पृ0 128 ; हर्षचरितम् , पृ0 146, 147

3• पु0 इ0 , भू0 पृ0 18-21 ; क0 हि0 पा0 पु0 , पृ0 4-5

वायु पुराण की ही तरह विष्णु पुराण को भी प्राचीन पुराणों में गिना जाता है। पुराणों के जो पंच लक्षण किये गए हैं, उनमें विष्णु पुराण अनन्य तम है। पार्जीटर इस विषय पर विचार करते हुए यह तर्क करते हैं कि इस पुराण का वर्ण्य विषय और इसकी रचना शैली समरूप है। इसकी इस रचना शैली से यह अनुमान होता है कि उस समय पुराण लेखन अपना स्तरीय स्वरूप प्राप्त कर चुका था इस पुराण में जैनों और बौद्धों के वैचारिक स्थलों से यह भी अनुमान होता है कि इसकी रचना गुप्त वंशीय शासन काल में हुई होगी, क्योंकि उस समय सर्वधर्म समभाव का काल था और यह समय निश्चित ही ईसा की पाँचवीं शताब्दी का हो सकता है।[1]

प्रारम्भिक पुराणों में मत्स्य पुराण को परवर्ती अनेक पुराणों का मूल स्रोत माना जाता है। आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने इसमें अनेक तर्क दिये हैं तथा यह प्रतिपादित किया है कि कालिदास द्वारा विरचित "विक्रमोर्वशीयम्" किसी न किसी रूप में अपनी विषय वस्तु के लिए मत्स्य पुराण पर आधारित है। इसलिए यदि कालिदास समय गुप्त युग स्वीकार किया जाता है तो फिर मत्स्य पुराण को प्राक् गुप्तकाल का पुराण स्वीकार करना होगा और यह समय होगा 200 ईसवीय से 400 ईसवीय के मध्य का।[2]

पुराणों का प्रारम्भिक ग्रथन जब हुआ और वे जब ग्रन्थाकार के रूप में प्रस्तुत किये गये तब वे सामान्यतः पञ्चलक्षणों से युक्त थे किन्तु बाद में जैसे -जैसे

---

1. ए॰इ॰हि॰ट्रे॰, पृ0 80
2. पु0वि0, पृ0 543-544

वे विविध सम्प्रदायों की विचारधारा के प्रचार के वाहक बनते गए, वैसे-वैसे ही उनमें अनेक सम्प्रदायों के विचारों का प्रवेश होता गया। इस दृष्टि से बारहवीं, तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी जो क्रमशः रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्यों के प्रकाश की शताब्दियाँ हैं, पुराणों के प्रक्षिप्तांश की भी शताब्दियाँ हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वान् कुछ पुराणों के कुछ अंशों को बहुत बाद का स्वीकार करते हैं।[1]

सामान्य रूप से यह कहना जहाँ संगत नहीं है कि पुराणरचना की प्रथम तिथि कौन सी है और अन्तिम तिथि कौन सी है, वहीं श्री शिवदत्त ज्ञानी की इस धारणा से सहमत हुआ जा सकता है कि पुराणों की आख्यान अवस्था 1200 ईसा पूर्व से 950 ईसा पूर्व तक की है। इनके विकास की अवस्था 950 ईसा पूर्व से लेकर 500 ईसा पूर्व तक की है। पुराणों की पञ्चलक्षण अवस्था 500 ईसा पूर्व से लेकर ईसवीय की प्रथम शताब्दी तक है। और इसी प्रकार पुराणों की साम्प्रदायिक अवस्था ईसवीय की प्रथम शताब्दी से 700 ईसवीय तक हो सकती है।[2]

पी0 वी0 काणे महोदय ने कुछ इसी रूप में पुराणों के विकास की पाँच अवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि प्रथम स्थिति में हम पुराणों के सन्दर्भ अथर्ववेद, शतपथ एवम् प्राचीन उपनिषदों में पाते हैं, द्वितीय स्थिति में, वे लिखते हैं

---

1. पु0 वि0 , पृ0 47

2. पु0 प0 भाग1, नं0 2 पृ0 213-219 ; भाग2 न0 1-2 पृ0 68-75

कि कम सेकम तीन पुराण होने चाहिए, क्योंकि तैत्तरीय आरण्यक तथा आपस्त-म्बधर्मसूत्र भविष्य पुराण की सूचना देते हैं। यह समय ईसापूर्व का 5 वीं अथवा चतुर्थ शताब्दी का होना चाहिए। तृतीय स्थिति ईसवीय की दूसरी तीसरी शता-ब्दी है जब महाभारत और स्मृतियाँ पुराणों का उल्लेख करती हैं। वे लिखते हैं कि मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्डपुराण न केवल 320 से 325 ईसवीय तक रचे जा चुके थे, अपितु वे पुनार्संस्कारित भी किए जा चुके थे। अधिकतर महापुराण पाँचवी छठवीं शताब्दी में अपना आकार ग्रहण कर चुके थे। यह इनकी चतुर्थ स्थिति थी। उपपुराण 7वीं 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।[1]

इस प्रकार से यही तथ्य तर्क संगत प्रतीत होता है कि पुराणों का रचनाकाल एक विस्तार का काल है जो किसी एक शताब्दी का न होकर अनकों शताब्दियों का है। सामान्य रूप में इसे ईसा पूर्व की तृतीय चतुर्थ शताब्दी से लेकर तेरहवीं-चोदहवीं शताब्दी तक का कहा जा सकता है।

रचयिता :- प्राचीन परम्परा और नवीन परम्परा में भी सामान्य रूप से सभी यह कहते-सुनते दृष्टिगत होते हैं कि सत्यवती पुत्र व्यास ही पुराणों के रचनाकार हैं। अनेकानेक पुराण भी इस विषय में कुछ ऐसे कथन देते हैं जिनके आधार पर भी यह मान लिया जाता है कि व्यास ही सभी पुराणों के रचनाकार हैं। जैसे स्कन्दपुराण में यह कहा गया है कि ईश्वर ने स्वयं ही युग-2 विशेष में व्यास का रूप धारण करके अष्टादश पुराणों का आख्यान किया-

व्यासरूपं विभुं कृत्वा संहरेत् स युगे युगे ।
तदेष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।।[2]

1• हि०ध० भाग 2 पृ० 853-55

2• म०पु० §1§ ,पृ० 218

मत्स्यपुराण में वेदार्थ से सम्पन्न महाभारत के माहात्म्य का निरूपण करते हुए यह वर्णन आया है कि सत्यवती नन्दन व्यास ने अठारह पुराणों की रचनाकर इनके कथानकों से समन्वित सम्पूर्ण महाभारत नामक इतिहास की रचना की।[1] इसी सन्दर्भ में जब पद्मपुराण का आलोकन किया जाता है तो वहाँ पर दो मत दिखाई देते हैं। एक के अनुसार यह प्रतिपादित है कि महर्षि व्यास को साक्षात् नारायण ही मानना चाहिये। उन्हीं परम ब्रह्मवादी, सभी कुछ के ज्ञाता, सम्पूर्ण लोकों में पूजित, दीप्त तेज वाले व्यास से ही पुराण सुने गए हैं।[2] जबकि इसी पुराण के एक दूसरे उद्धरण के अनुसार यह उल्लिखित है कि अष्टादश पुराणों के "व्याकर्ता" महर्षि मनु हैं- "अष्टादशपुराणानां व्याकर्ता तु भवेन्मनुः।[3]

इस सन्दर्भ में यह भी विचार करने वाला तथ्य है कि व्यास शब्द का शाब्दिक अर्थ विस्तार करने वाला भी होता है। व्यास वह है जो किसी विषय का विस्तार करतर है, विश्लेषण करता है, कथावाचक है अथवा जो पुराणों की कथा सुनाता है।[4] यदि इस अर्थ में पुराणों के रचनाकार सत्यवती पुत्र व्यास को मानते हुए भी यह कहा जाए कि एक काल में और एक ही व्यक्ति द्वारा इतने पुराणों की रचना न हो सकने के कारण व्यास एक उपाधि थी और जिसने-जिसने भी पुराण रचनाएँ कीं, वे सभी व्यास कहलाए तो यह भी तर्क संगत माना जा सकता है। इसमें यह एक तर्क और भी दिया जाता है कि भिन्न- भिन्न पुराणों की भाषा शैली और वर्णन वस्तु भी पृथक्-पृथक् है जिससे यह प्रतीत होता है।

---

1. म०पु०(I), पृ०218
2. प० पु० 1, पृ० 40-41
3. वही, पाताल खण्ड 111/98
4. सं० शा० को०, पृ० 1061

कि इनके रचनाकार भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इस सन्दर्भ में यदि श्री मद् -भागवत की भाषा देखी जाए तो विलष्ट अथवा अति विलष्ट भाषा के रूप में दृष्टि-गत होगी। पर उसी भाँति पद्म पुराण की भाषा सरल और सहज है।[1] इसी भाँति पद्मपुराण का यह सन्दर्भ कि ब्रह्मा ने विभिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर पुराणों की रचना की,[2] इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भिन्न- भिन्न युगों में जन्म ग्रहण करने वाले व्यास एक न होकर अनेक थे और उन्होंने अपने-अपने समय में पुराणों की रचना की थी।

वक्ता अथवा सूत

प्राय: पुराणों में वक्ता के रूप में सूत का नाम बार-बार आता है। यही कथा प्रारम्भ करने वाला और पौराणिक के रूप में जाना जाता है। जैसे श्री मद्भागवत महापुराण के माहात्म्य में सूत शौनक को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे शौनक ! तुम्हारे चित्त में जो प्रीति है उसके अनुरूप में सर्वसिद्धान्त निष्पन्न संसारभयनाशक, भक्तिवर्धक, कृष्णसन्तोष का हेतु कथानक कहता हूँ, उसे सावधानी पूर्वक सुनो।[3] इसी प्रकार लिंग पुराण में यह वर्णन है कि पौराणिकोत्तम सूत ने नारद के समक्ष महादेव की कथा कही थी।[4] इस हेतु से पौराणिक रचनाकारों के साथ-साथ ही समीक्षक सूत पर भी विचार करते हैं। मनुस्मृति में यह कहा गया है

---

1. भा0 पु0 , पृ0 267 ; प0 पु0(), पृ0 245
2. वही , सृष्टि खण्ड 1/50
3. वही0, पृ0 25
4. लि0 पु0(), पृ0 33-35

कि जो क्षत्रिय के वीर्य से और ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ होता है, वह सूत कहा जाता है।[1] श्रीमद् भागवत पुराण में सूत को प्रतिलोमज कहा गया है और कथा कहते हुए शिष्ट व्यवहार न किए जाने के कारण निन्दित किया गया है।[2] इससे सूत की निम्नता का आभास मिलता है। किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सूत कहा जाता है किन्तु पुराणों में वर्णित सूत और मागध इनसे भिन्न हैं-"क्षत्रियात् सूतः। पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च; ब्रह्मक्षत्रात् विशेषतः।"[3] वायु पुराण इस सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार अग्निकुण्ड से सूत अथवा प्रसूत होने के कारण इन्हें सूत कहा गया। इससे सूत की तेजस्विता और अज्ञानान्धकार के छेदन की शक्ति का आभास मिलता है। अग्निपुराण का इस सन्दर्भ में स्पष्ट अभिमत है कि सूत पौराणिक द्विज हैं और वे वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता तथा धर्म को जानने वाले हैं"इस लिए प्रतीत यह होता है कि सूत भी किसी व्यक्ति का नाम न होकर पुराण कथा के वाचकों को संबोधित करने वाला नाम हो सकता है।

पुराणों की संख्या तथा क्रम

विष्णु पुराण में वेद और वेदोत्तर साहित्य के विस्तार का क्रम बताते हुए व्यास जी के द्वारा अपने प्रसिद्ध शिष्य सूत को पुराण-अध्ययन कराये जाने के उल्लेख के क्रम में अठारह पुराणों की रचना की गई बताई गई है और उसमें भी ब्रह्म पुराण को प्राचीन कहा गया है-"अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।[5]

---

1. वही, पृ0 428
2. वही, पृ0 636
3. वही, पृ0 347-348
4. वही, 18/15
5. वि0 पु0 [1], पृ0 39।

इसी प्रकार से अठारह पुराणों का सन्दर्भ अन्य और पुराणों में भी दिया गया है।[1] इस प्रकार से जो एक सामान्य मान्यता "अष्टादश पुराणानि" की है, तदनुरूप पुराणों की संख्या अठारह ही है। सामान्य रूप में इन पुराणों का क्रम ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिङ्ग-पुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण, एवम् ब्रह्माण्डपुराण है। पद्मपुराण के आदि खण्ड, पाताल खण्ड और उत्तर खण्ड में पृथक्-पृथक् पुराणों के नाम दिए गए हैं किन्तु उनके क्रम में अन्तर है।[2] इतना ही नहीं इस पुराण में दी गई संख्या भी अन्य स्थानों की अपेक्षा भिन्न है। पातालखण्ड में पुराणों की संख्या बाईस दी गई है। इस उल्लेख में ब्रह्माण्डपुराण को छोड़ दिया गया है और मार्तण्ड पुराण, नृसिंह पुराण, कपिल पुराण, दुर्गा पुराण तथा भविष्योत्तर पुराणों का नाम अतिरिक्त रूप से जोड़ा गया है।[3] वायु पुराण में-"एवमष्टादशोक्तानि पुराणानि बुधैस्त च" कहकर पुराणों की संख्या तो अठारह ही कही गई है किन्तु पुराणों की गणना में केवल सोलह पुराणों का नाम दिया गया है। ये पुराण हैं- मत्स्य, भविष्य, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड, भागवत, ब्रह्म, वामन, आदिक, वायु, नारदीय, गरुड, पद्म, कूर्म, वाराह एवम् स्कन्दपुराण। इनमें भी आदिक पुराण का नाम प्रचलित पुराण-परम्परा से भिन्न है।[4] देवीभागवत पुराण में, जो उपपुराण में परिगणित है, पुराणों के आदि अक्षरों से अष्टादश पुराणों का परिचय दिया गया है-

- -

1. भा० पु० , प० 743 ; म० पु०(अ) 8, पृ० 217; वा० पु०, पृ० 195
2. वही, उत्तरखण्ड 219, 25-27; 261, 77, 81
3. प० पु० पातालखण्ड 10/51/53
4. वही, पृ० 195

मत्स्यं भव्यं चैव कूर्मं च चतुष्टयम् ।

नारसिंहाग्नि पुराणानि कूर्मं गारुडमेव च ।।[1]

पुराणों का वर्गीकरण

पुराण साहित्य की अपनी यह एक विशिष्ट शैली है कि वे स्वाभिमत किसी एक देवता का विशेष वर्णन करते हैं और फिर उस देवता की विशिष्टता के सामने अन्य देवताओं का अपकर्ष-सा कर देते हैं। इस प्रकार से यदि विष्णु पुराण को देखें तो इसमें विष्णु का इतना अधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है कि उन्हें ही इस सृष्टि का उत्पादक, धारक और विनाशक बताया गया है। विष्णु त्रिकाल में अविनाशी, हिरण्यगर्भ और शंकर के नाम से प्रसिद्ध हैं-

सर्गस्थितिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः ।

मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ।।[2]

इसी प्रकार से यदि लिङ्ग पुराण का अवलोकन करें तो उसमें यह दृष्टिगत होगा कि लिङ्ग ही शिव है और उसकी आज्ञा से ही समस्त महाभूत सृष्टि का जनन करते हैं तथा बुद्धि उसी की आज्ञा से अव्यवस्थित होती है-

महाभूतान्यशेषाणि जनयन्ति शिवाज्ञया ।

अव्यवस्यति सर्वार्थान्बुद्धिस्तस्याज्ञया विभोः ।।[3]

इस प्रकार से प्रत्येक पुराण प्रायः अपने-अपने अभिमत देवता का आख्यान विशिष्टता के साथ करता है। यही कारण है कि पुराणों का एक वर्गीकरण देवशक्तियों के आधार पर किया जाता है।

---

1. वही 1/3/2

2. वि० पु० ‖1‖, पृ० 46

3. लि० पु०, पृ० 158

स्कन्द पुराण में इसी प्रकार का वर्गीकरण है जिसके अनुसार दस पुराण शैव, चार-पुराण वैष्णव, दो पुराण ब्रह्म, एक अग्नि तथा एक सूर्य से सम्बन्धित है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है-

(1) शैव पुराण :- 1. शिव 2. भविष्य 3. मार्कण्डेय
4. लिङ्ग 5. वाराह 6. स्कन्द
7. मत्स्य 8. कूर्म 9. वामन
10. ब्रह्माण्ड

(2) वैष्णव पुराण :- 1. विष्णु 2. भागवत
3. नारद 4. गरुड़

(3) ब्रह्म पुराण :- 1. ब्रह्म 2. पद्म

(4) अग्नि पुराण :- 1. अग्नि

(5) सविता या सूर्य :- 1. ब्रह्मवैवर्त[1]

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त पुराणों का एक वर्गीकरण त्रिगुण के आधार पर किया जाता है। इसके अनुरूप यह विवरण है कि मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग , शिव, स्कन्द, अग्नि, पुराण तामस पुराण हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड़, पद्म और वराह ये सात्विक पुराण हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्म वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म- ये राजस पुराण हैं-

---

1. वही, सम्भवकाण्ड 2/30/38

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ।।
. . . .
. . . .
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ।[1]

मत्स्यपुराण कहता है कि सत्वगुण प्रधान पुराणों में विष्णु के माहात्म्य को तथा रजोगुण प्रधान पुराणों में ब्रह्मा की प्रधानता जाननी चाहिए। इसी भाँति तमोगुण प्रधान पुराणों में अग्नि और शिव का माहात्म्य का वर्णन किया गया है।[2]

पुराणों में वर्णित विषयों के अनुसार जो वर्गीकरण किया जाता है तद्-नुरूप साहित्यिक-ऐतिहासिक पुराणों में गरुड़, अग्नि और नारदपुराण हैं। द्वितीय वर्ग में तीर्थों और व्रतों का वर्णन है जिसमें पद्म, स्कन्द और भविष्यपुराण हैं। तृतीय वर्ग इतिहास प्रधान ब्रह्माण्ड और वायुपुराणों का है। चतुर्थ वर्ग साम्प्रदायिक पुराणों का है जिसमें लिङ्ग, वामन और मार्कण्डेय पुराण हैं। पंचम वर्ग प्रक्षिप्तांश बहुल पुराणों का है जिसमें ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और भागवत हैं। षष्ठ वर्ग में वे पुराण हैं जो आमूल परिवर्तित हो गए हैं। इनमें वाराह, कूर्म और मत्स्यपुराण हैं।[3]

पुराणों में वर्णित विषय

मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि पुराणों में सर्ग आदि पाँच अङ्ग तथा आख्यान कहे गए हैं। इनमें से सर्ग (ब्रह्मा द्वारा की गई सृष्टि रचना), प्रति-(ब्रह्मा के मानस पुत्रों द्वारा की गई सृष्टि रचना अथवा प्रतिसंचर या प्रलय), वंश

---

1. प० पु०, उत्तरकाण्ड 263/81-84
2. वही, पृ० 219
3. पु० स०, पृ० 19 ; कल्याण, पृ० 553

{सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि}, मन्वन्तर {स्वायम्भुव आदि मनुओं का कार्यकाल} तथा वंशानुचरित {पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न नरेशों का जीवन चरित} कहा जाता है। इन पंच लक्षणों से युक्त पुराणों में सृष्टि और संहार करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और रुद्र के तथा भुवन के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का भी इनमें विस्तृत विवेचन है-

> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
> वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।
>
> × × × × ×
>
> ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां महात्म्यं भुवनस्य च ।
> ससंहार प्रदानां च पुराणे पञ्चवर्ण्य के ।।
> धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
> सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत् फलम् ।।[1]

पुराणों में वर्णित इन पंचलक्षणों का संकेत, जिन्हें हम पुराणों में वर्णित विषय भी कह सकते हैं, अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत, तथा अग्नि पुराण आदि में ऐसा ही कथन किया गया है।[2] इस आधार पर तो यह प्रतीत होता है कि जिन ग्रन्थों में इन पंचलक्षणात्मक विषयों का वर्णन किया गया है, वे पुराण हैं अथवा पुराणों में ये पाँच प्रकार के विषय वर्णित हैं। किन्तु स्थिति ऐसी न होकर इस अर्थ में भिन्न है कि पुराणों के इन

---

1. म0 पु0 {1}, पृ0 218
2. वि0 पु0 {1}, पृ0 391; मा0 पु0 137/13 ; अ0 पु0 1/18
   दे0 भा0 1/2/18

पंचलक्षणात्मक वर्णन का बहुत ही कम अंश में परिपालन किया गया है। पुराण पर्यालोचन के आधार पर एक मत इस प्रकार का दिया जाता है कि वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा विष्णु आदि प्राचीन पुराणों में ये पंचलक्षणात्मक वर्ण्य-विषय अवश्य प्राप्त होते हैं किन्तु बाद के पुराण जैसे-जैसे ग्रथित होते गए, उनमें अन्य और विषयों का भी समावेश होतागया।[1]डा0 पुसालकर ने अपने एक लेख में यह अभिमत व्यक्त किया है कि कोई भी पुराण अपने सम्पूर्ण रूप में पंचलक्षणात्मक नहीं है। कुछ पुराणों में तो कई अधिक विषय हैं और कुछ पुराणों में प्राय: इन विषयों की कोई चर्चा तक नहीं है। इनका यह भी मत है कि ये पंच लक्षण तो केवल उपपुराणों के लिए हैं; महापुराणों के लिए तो दस लक्षण होने चाहिए।[2]इसी तरह से एक अन्य विद्वान ने यह मत व्यक्त किया है कि समस्त पुराणों के चार लाख श्लोकों में से केवल दस हजार श्लोकों में ही पंचलक्षणात्मक विषयों का समावेश किया गया है।[3]

श्री मद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में यह संकेत आया है कि पुराण-विषय के दस लक्षण जानने चाहिए। इसी प्रकार द्वादशस्कन्ध में सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु तथा अपाश्रय के रूप में दस लक्षण बताए गए हैं-

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रय: ।।[4]

1• पु0 स0, पृ0 20
2• कल्याण, पृ0 552
3• द0 पु0 पं0 स0 , पृ0 9 ; 49
4• वही, पृ0 107 ; 743

एक अन्य मत के अनुसार सृष्टि, विसृष्टि, स्थिति, पालन, कर्मवासना, मनुवार्ता, प्रलयवर्णन, मोक्षनिरूपण, हरि कीर्तन तथा देवकीर्तन पुराणों के ये दस लक्षण हैं।[1]

इन विषयों के अतिरिक्त देव स्तुतियाँ, उपासना पद्धतियाँ, आचार-व्यवहार, नीति-दर्शन तथा वर्णाश्रम व्यवस्था जैसे विषय भी पुराणों में वर्णित हैं।

पुराण संरचना का उद्देश्य

वायु पुराण में यह कहा गया है कि जो वेदों को और उपनिषदों को सांगोपाङ्ग जानता है किन्तु पुराणों को यदि नहीं जानता है तो वह विचक्षण नहीं हो सकता। इतिहास और पुराणों से ही वेदों का समुपबृंहण हो सकता है क्योंकि अल्पश्रुत से वेद इसलिए डरता है कि कहीं यह मेरी प्रतारणा न करें-

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ।।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ।।[2]

इस सन्दर्भ से ही पुराण संरचना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है जिसके आधार पर पुराणों के माध्यम से वेदसाहित्य का उपबृंहण करना एक निश्चित उद्देश्य है।

---

1. पु० सा०, पृ० 21
2. वा० पु०, पृ० 4

डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल विस्तार से अपने एक लेख में स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार से पुराण वेद-विषयों का उपबृंहण करते हैं।[1]

समयान्तर के बाद विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ तब उन-उन सम्प्रदायों एवम् उनके सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए भी इन पुराणों की संरचना हुई। तीर्थयात्रा, व्रत दान, श्राद्ध आदि की महिमा का वर्णन करके उनका प्रचार-प्रसार करना भी पुराणों का उद्देश्य निरूपित किया जा सकता है।

पुराण-परिचय

जैसा कि पौराणिक साहित्य के लिए प्रचलित है तदनुरूप अठारह पुराणों का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

वायु पुराण

इस पुराण की गणना महापुराणों में होती है। प्राय: पुराण शैव, शाक्त और वैष्णव हैं किन्तु वायु पुराण शिवपुराण इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इसमें शिव की महिमा अतिशय रूप में वर्णित है। इस पुराण में यह कहा गया है कि इस निखिल जगत का मूल शिवात्मक तत्त्व ही है-

नारायण: सर्वमिदं विश्वं व्याप्य प्रवर्तते ।
तस्यापि जगत: स्रष्टु: स्रष्टा देवो महेश्वर: ।।[2]

1• पु0 प0, भा0 1 अं0 1, पृ0 89-100
2• वा0 पु0 , पृ0 4

कहीं-कहीं पर ऐसा उल्लेख है कि यह पुराण चौबीस हजार श्लोकों वाला था। अन्यत्र यह उल्लेख है कि इसमें बारह हजार श्लोक थे। किन्तु, अब उपलब्ध सभी संस्करणों में प्राय: ग्यारह हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं।[1]

इस पुराण में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के क्रम से क्रमश: 61 तथा50 अध्याय संकलित हैं। वैसे परम्परा में 112 अध्यायों का उल्लेख है। इन अध्यायों का विषय विभाग चार भागों में किया गया है। इसके प्रक्रियापाद में 1 अध्याय से 6 अध्याय तक ब्रह्माण्ड रचना, सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन के साथ-साथ यह भी विवेचन है कि इस चराचरात्मक ब्रह्माण्ड में जीव का प्रथम उद्भाव कैसे हुआ था। 17 अध्याय से 64 वें अध्याय तक सृष्टि का विशद, कल्पभेद और मन्वन्तरों का निरूपण किया है। पितरों तथा मूर्धन्य ऋषियों का उल्लेख भी इस खण्ड में विधिवत् किया गया है। 65 वें अध्याय से 99 वें अध्याय तक सप्तर्षियों का, उनके गोत्रों का तथाश्राद्ध आदि का वर्णन किया गया है। इस खण्ड में अनेक अध्याय गद्यात्मक हैं। 100 वें अध्याय से समापन तक भविष्य के मन्वन्तरों, योग का माहात्म्य, वायु पुराण के व्यास तथा राधाकृष्ण का संक्षिप्त चरित्र वर्णित है।

इस प्रकार से पुराण में विविध विषयों का आख्यान किया गया है। इस पुराण के वंशानुचरित आख्यानों में गुप्तवंशीय राजाओं का उल्लेख होने से तथा बाणभट्ट द्वारा इसका उल्लेख किए जाने से इसका रचनाकाल ईसवीय 350 से 550 के बीच स्वीकार किया जाता है।[2]

1• वही, भू0, पृ0 6

2• पु0 स0 , पृ0 56

ब्रह्म पुराण

ब्रह्म पुराण के विषय में एक स्थान पर यह कहा जाता है कि यह पुराणों में आदि पुराण है जबकि एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि पुराण रचना के क्रम में यह पुराण पंचम पुराण है। इस पुराण को दो भागों में बाँटा जाता है। एक भाग पूर्वभाग कहलाता है और दूसरा भाग उत्तर भाग कहा जाता है। इस पुराण के इन दोनों भागों को मिलाकर दो सौ पैंतालीस अध्याय हैं।[1] श्री मद्-भागवत पुराण में पुराणों के श्लोकों की संख्या का वर्णन करते समय ब्रह्म पुराण के श्लोक-संख्या का प्रभाव इस प्रकार दिया गया है-"ब्राह्मं दश सहस्राणि"- अर्थात् ब्रह्म पुराण पुराण की श्लोक संख्या दश हजार है।[2] इसके विपरीत मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने महर्षि मरीचि के प्रति जितने श्लोकों का वर्णन किया था, वह प्रथम पुराण ब्रह्म-पुराण कहा जाता है। इसमें तेरह हजार श्लोक हैं-" ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते"।[3]

इस पुराण के प्रथम अध्याय से प्रारम्भ करके 175 वें अध्याय तक वक्ता तथा श्रोता ब्रह्मा तथा मरीचि हैं। 176 वें अध्याय से लेकर अन्त तक इसके वक्ता व्यास कहे गए हैं। किन्तु इस समय जो पाठ इस पुराण का प्रचलित है, उसमें ब्रह्मा तथा दक्ष पुराण वर्णनकर्ता के रूप में उल्लिखित हैं। प्रतीत यह होता है कि निरन्तर संशोधित और परिवर्धित होतेरहने के कारण यह पुराण प्राचीन रूप से कुछ- कुछ

---

1. वही, पृ0 53
2. वही, पृ0 755
3. वही, पृ0 213

नवीन रूप में परिवर्तित हो गया । इसीलिए विचारक यह स्वीकार करते हैं कि इस पुराण का प्राचीन रूप बारहवीं अथवा तेरहवीं शती का रूप हो सकता है।

पद्म-पुराण-

पद्मपुराण की रचना के समय में भी पर्याप्त मतभेद हैं और इतिहास काल अपने-2 दृष्टिकोण से इसकी रचना का समय निर्धारित करते हैं ,पर इस मत को प्रायः उद्धृत किया जाता है कि इस पुराण के आदि खण्ड की रचना लगभग 900 वर्ष इसवीय में हुई होगी,जबकि इसके उत्तरखण्ड की रचना 900 से 1500 ईसवीय के मध्य में होसकती है।[1]

पद्मपुराण में ही इस पुराण का जो परिचय दिया गया है,उसके अनुसार इस पद्मपुराण के आदि में सृष्टि खण्ड है, इसके आगे भूमिखण्ड है। तत्पश्चात् स्वर्गखण्ड है और तब पातालखण्ड का ग्रन्थन किया गया है। इस पुराण को उत्तमखण्ड इसका उत्तरखण्ड है, उस महापद्म से उद्भूत सम्पूर्ण जगत और उसके सम्पूर्ण वृतान्त का कथन करने के कारण यह पद्म पुराण के नाम से ख्यात है-

तत्रादौ सृष्टिखण्डं स्याद्भूमिखण्डं ततः परम् ।
स्वर्गखण्डं तत्पश्चात् ततः पाताल खण्डकम्।।
पञ्चमञ्च ततः ख्यातमुत्तर खण्डमुत्तमम् ।
एतदेव महापद्ममुद्भूतं यन्मयं जगत् ।
तद्वृत्तान्ताश्रय यस्मात् पाद्ममित्युच्यते ततः।।[2]

1. पु0स0,पृ0 55
2. वही ,पृ04।

इस पुराण के प्रमुख रूप से दो प्रमुख संस्करण प्राप्त हैं। एक संस्करण दाक्षिणात्य के नाम से ख्यात है और दूसरा उत्तरीय नाम से ख्यात है। इनमें पद्म पुराण के छह खण्डों का उल्लेख प्राप्त है।आनन्द प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण में 628 अध्यायों में 48452 श्लोकों की संख्या दी गई है।

विष्णु पुराण

अठारह पुराणों की क्रम गणना में जो सूचियाँ दी गई हैं उनमें विष्णु पुराण का क्रम तीसरा दिया जाता है। समालोचकों की दृष्टि से यह पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा इसलिए अधिक श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि इसकी भाषा और वर्णन शैली न केवल अनूठी है अपितु श्रीमद् भागवत से तुलनीय है। अन्य अनेक पुराणों में साम्प्रदायिक विचारों का जो खण्डन-मण्डन दृष्टिगत होता है, वह भी इस पुराण में नहीं है[1] तथा धार्मिक तत्वों का जिस सुबोध शैली में इसमें वर्णन किया गया है, वह भी प्रशंसा के योग्य है।

विष्णु पुराण की श्लोक संख्या को लेकर भी पर्याप्त मात्रा में मतभेद है। अधिकरूप में यह कहा जाता है कि इस पुराण में 23 हजार श्लोक थे। किन्तु अद्यतन जो पुराण प्राप्त है उसमें सात हजार श्लोक प्राप्त हैं। इस पर कुछ लोगों का मत है कि विष्णु धर्मोत्तर पुराण को इसके साथ जोड़ देने पर सोलह हजार की श्लोक संख्या हो जाती है; फिर भी सात हजार श्लोकों की संख्या कम रह जाती है।[2]

---

1. पौ० ध० सा०, पृ० 112
2. वि० पु० ﹙1﹚, भू०, पृ० 01

विष्णु पुराण की एक यह भी विशेषता है कि पुराणों के जो पंच लक्षण कहे हैं, वे सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इसमें प्राप्त हैं। इसमें इन वर्णनों के साथ-साथ सदाचार और धर्म का निरूपण एवम् कलिधर्म आदि का वर्णन किया गया है।

इस पुराण का विभाग छह अंशों में किया गया है। इसमें एक सौ छब्बीस अध्याय हैं। इसके प्रथम अंश में काल का स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति तथा ध्रुव और प्रह्लाद का वृत्तान्त है। दूसरे अंश में पृथिवी खण्डों तथा ग्रह- नक्षत्र आदि का ज्योतिष सम्बन्धी विवरण है। इस पुराण के तीसरे अंश में मन्वन्तरों, वेदों की शाखाओं के वर्णन के साथ-साथ गृहस्थ धर्म तथा श्राद्ध विधि का वर्णन प्राप्त है। चतुर्थ अंश में सूर्यवंश के राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसके पंचम अंश में श्री रामचरित और विस्तार से कृष्ण चरित का वर्णन किया गया है। इस पुराण का छठवां अंश अपेक्षाकृत छोटा है और इसमें प्रलय तथा मोक्ष का वर्णन किया गया है। श्री पी0 वी0 काणे महोदय ने इसकी विषय-वस्तु आदि का परीक्षण करके इसका रचना समय 300 ई0 से 500 ईसवीय माना है।[1]

भागवत पुराण

पुराणों के क्रममें श्रीमद् भागवत को पंचम पुराण के क्रम में रखा जाता है-"तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमं वेद सम्मितम्"।[2] यह पुराण अत्यधिक प्रतिष्ठित पुराण है।

1• ध0 शा0 इ0 , पृ0 426

2• पु0 स0 से उद्धृत, पृ0 57

श्रीमद् भागवत का माहात्म्य इसलिए भी अत्यधिक है क्योंकि यह पुराण "विद्यावताम् भागवते परीक्षा" के रूप में विद्वानों के लिए भी दुरूह है। इसका पाठ, अर्थ, अभिप्राय जानना और समझना सर्वजन के लिए सुकर नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म-धर्म के सम्पादन के क्षेत्र में भी यह ग्रन्थ अनुपमेय है।[1]

इस पुराण का प्रारम्भ पुराण माहात्म्य से किया गया है। माहात्म्य में प्रारम्भ के 6 अध्याय है। इसके पश्चात् इसमें बारह स्कन्ध और 335 अध्याय हैं। बाद में माहात्म्य के 4 अध्याय और संकलित हैं। इसके दशम स्कन्ध को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में दो भागों में बाँटा जाता है। इसमें कृष्ण चरित का अद्भुत और रोमांचकारी वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। श्रीमद् भागवत पुराण में जितने स्कन्ध और जितने श्लोक हैं; श्रीमद् भागवत पुराण में भी उतने ही स्कन्ध और श्लोक हैं। किन्तु श्रीमद् भागवत पुराण का महत्त्व एतदर्थ है क्योंकि वैष्णव परम्परा में इसे निगम तरु का गलित अमृत फल कहा जाता है-

> निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
> पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुका: ।।[2]

इस पुराण का दृष्टिकोण ही यही है कि अद्वैत ब्रह्म जगद् व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए विविध अवतार धारण करते हैं।

---

1. भा० पु० , भू०, पृ० 6-7
2. वही, पृ० 49

नारद पुराण

नारद पुराण को वैष्णव पुराणों की परम्परा में छठवाँ पुराण माना गया है। यह पुराण पूर्वखण्ड तथा उत्तरखण्ड के रूप में दो भागों में विभक्त है। इसमें पूर्वखण्ड में 125 अध्याय तथा इसके उत्तरखण्ड में 82 अध्याय है, इस पुराण में अन्य सभी पुराणों की विषय सूची का ग्रथन किया गया है जिससे विवेचक यह धारणा बनाते हैं कि इस पुराण यह अंश पश्चात् कालीन है। किन्तु इसका यह लाभ अवश्य प्राप्त होता है कि इससे प्राचीन पुराणों और पश्चात् कालीन पुराणों का क्रम जानने में सहायता मिलती है। पुराणों की ऐतिहासिक रचना स्थिति पर विचार करने वाले विद्वानों ने नारद पुराण का रचनाकाल 16 वीं शताब्दी निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।[1] जबकि कुछ अन्य विद्वान् इसका रचना-समय 10 वीं शताब्दी मानते हैं।[2]

मार्कण्डेय पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण -" मार्कण्डेयं नव-"[3] के द्वारा तथा वायुपुराण-मार्कण्डेय महात्म्यं प्रोक्तं नवसहस्रकम्-"[4] के द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि मार्कण्डेय पुराण में नव हजार श्लोक थे। मार्कण्डेय ऋषि के द्वारा इस पुराण की रचना की गई है, जिससे उन्हीं के नाम से इस पुराण का नाम मार्कण्डेय पुराण

---

1. पु0 वि0, पृ0 150
2. पु0 स0, पृ0 58
3. वही, पृ0 755 ;म0 पु0 , पृ0 214
4. वही, पृ0, 195

पड़ गया है। इस समय इस पुराण में छह हजार नौ सौ श्लोक ही उपलब्ध हैं। इस पुराण का सर्वाधिक आकर्षक और प्रसिद्ध अंश वह है जो दुर्गा सप्तशती के नाम से प्रख्यात है। इसका ग्रथन इस पुराण के 78 वें अध्याय से 90 वें अध्याय तक किया गया है। इसमें देवी की महिमा और उनकी व्यापकता के साथ उनकी स्तुति की गई है।

दुर्गा सप्तशती के इस अंश को कुछ इतिहास लेखक इस पुराण का मूल अंश नहीं मानते हैं वे यह मत प्रतिपादित करते हैं कि यह बाद में मिश्रित किया गया है। वैसे इस पुराण के इस अंश की एक प्रति 998 ईसवीय की प्राप्त हुई है, जिससे इसका रचना समय 10 वीं शताब्दी से पूर्व का माना जाता है। पी0 वी0 काणे महोदय दुर्गा सप्तशती के इस अंश का रचनाकाल छठवीं शती ईसवीय से भी कुछ पूर्व का मानते हैं। जबकि हाजरा महोदय इस पुराण में वर्णित सदाचार, नक्षत्र आदि की तुलनात्मक समीक्षा करने के बाद इसके कतिपय अध्यायों की रचना तिथि दूसरी शताब्दी से 550 ईसवीय के मध्य स्वीकार करते हैं।[1]

अग्नि पुराण

आग्नेयमष्टमम् चैव- के उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण पुराणों की गणना में आठवाँ पुराण है।[2] इस पुराण की श्लोक संख्या जो श्रीमद् भागवत में दी गई है, उसके अनुसार इसमें पन्द्रह हजार चार सौ श्लोक थे।[3] किन्तु वर्तमान समय में बारह हजार श्लोक ही प्राप्त होते हैं। हाजरा यह मानते हैं

1• स्ट0 उप0 पु0 , पृ0 9-13

2• विष्णु पु0 , ३।६ , पृ0 39।

3• वही0 , पृ0 393

कि इस समय अग्नि पुराण का जो पाठ प्रचलित है, यह इस पुराण के मूल पाठ से भिन्न है।[1]

इस पुराण की विषय वस्तु के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार से भारतीय जीवन दर्शन का विश्वकोष सा है। इसमें वस्तु-कला, स्थापत्य कला, अनेकानेक शिल्पों का विवेचन तो है ही, ज्योतिष शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र और स्वप्न विचार आदि का संकलन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण शास्त्र, काव्य शास्त्र, राजनीति, धनुर्विद्या, युद्ध विद्या आदि विद्याओं का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इन विषयों के साथ-साथ इस पुराण में तन्त्र, मन्त्र, रत्नों की परीक्षा, सर्प-चिकित्सा, पूजा, व्रत, दान, उपवास, श्राद्ध जैसे विषयों का भी साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। यही नहीं, इस पुराण में रामायण, महाभारत, हरिवंश पुराण तथा श्री मद् भागवत पुराण आदि महनीय ग्रन्थों के प्रसिद्ध आख्यान भी संकलित हैं। इससे यह अग्नि पुराण विषय-विवेचन की दृष्टि से एक महनीय कोश सा बन गया है।

हाजरा ने "वह्नि पुराण" के नाम से एक पुराण का उल्लेख किया है, जिससे इस मत को सम्बल मिला है कि सम्भवतः अग्नि पुराण का नाम ही "वह्नि पुराण" है। किन्तु अन्य आलोचक इस मत को नहीं मानते।

भविष्य पुराण-

मत्स्यपुराण में यह उल्लेख आया है कि जिसमें अघोर कल्प के वृत्तान्त के प्रसङ्ग से सूर्य के माहात्म्य का आश्रय लेकर ब्रह्मा ने मनु के प्रति जगत की स्थिति और प्राणि समूह के लक्षण का वर्णन किया है तथा जिसमें प्रायः भविष्य कालीन चरित्त का वर्णन आया है, उसे इस लोक में नवम् भविष्य पुराण कहते हैं। इसमें चौदह हजार पाँच सौ श्लोक हैं।

1· स्ट० उप०, पु०, पृ० 135

अघोरकल्पवृत्तान्त प्रसीन जगत् स्थितिम् ।
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ।।
चतुर्दशसहस्राणितथा पञ्चशतानि च ।
भविष्यच्चरितं प्रायं भविष्यं तदि होच्यते ।।[1]

भविष्यपुराण में 605 अध्याय हैं। इनका विभाजन पाँच भागों में किया गया है। ये भाग हैं- ब्राह्म पर्व, वैष्णव पर्व, शैव पर्व, सौरपर्व तथा प्रतिसर्ग पर्व। इस पुराण की विषय वस्तु का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि इसका कुछ अंश प्राचीन तथा कुछ अंश अर्वाचीन होना चाहिए। उदाहरण, के लिए प्रारम्भ का सृष्टि वर्णन, सूर्य का विराट स्वरूप वर्णन ब्रह्मकृत सूर्य स्तुति, ब्रह्माण्डोत्पत्ति, विविध कुण्डों का निर्माण एवम् निर्णय, यज्ञभेद और वहिनाम वर्णन, ब्राह्मण लक्षण और उनके कर्त्तव्यों का कथन, त्रेतायुगीन भूपतियों का वर्णन आदि।

इसके उत्तर भाग में इस प्रकार के विषयों का वर्णन है जो भारत की अर्वाचीन घटनाएँ हैं। जैसे पृथ्वीराज द्वारा गुर्जर राज्यग्रहण, हंस का पद्मिनी वर्णन, अजमेर के तोमर नरेशों का वर्णन, परिहार भूप वंश वर्णन, दिल्ली के म्लेच्छ राजाओं का वर्णन, कबीर, पीपा तथा नानक आदि का वृत्तान्त, अकबर बादशाह का वर्णन। इसलिए हाजरा ने यह मत प्रस्तुत किया है कि इस पुराण का ब्राह्मपर्व अपेक्षाकृत प्राचीन है।[2]

1• वही, पृ0 215

2• स्ट0 उप0 पु0, पृ0 169-170

ब्रह्मवैवर्त पुराण

"कथितं ब्रह्मवैवर्तमष्टादशसहस्रकम्"[1] तथा " दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तम्"[2] के अनुसार यह तो निश्चित सा ही प्रतीत होता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण की श्लोक संख्या अठारह हजार कही गई है। मत्स्यपुराण में भी-तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते- कहकर इसी की पुष्टि की गई है। इस आलोच्य पुराण में ही इस पुराण के नामकरण का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि ब्रह्म के विवर्त स्वरूप का वर्णन करने के कारण इस पुराण का नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण किया गया है-"विवर्तनाद् ब्रह्मणस्तु ब्रह्मवैवर्तमुच्यते।"[3]

इस पुराण को ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणेशखण्ड तथा कृष्ण खण्डों का विषयानुरूप विभाजन करके चार भागों में प्रस्तुत किया गया है। इनमें से ब्रह्मखण्ड में ब्रह्म का वर्णन, प्रकृतिखण्ड में प्राकृतिक लीला का निरूपण तथा गणेश खण्ड में गणेश की कथा संकलित है। कृष्ण खण्ड में कृष्ण तथा राधा के चरित्र का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है जिसके आधार पर इस पुराण की रचना को प्राचीन रचना माना जाता है और यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि तृतीय शताब्दी में महाकवि भास ने भी अपने "बालचरित " में राधा-कृष्ण की लीला का वर्णन इसी प्रकार किया था।[3] इसके विपरीत यह मत भी व्यक्त किया जाता है कि मूल ब्रह्म वैवर्तपुराण की रचना सातवीं शताब्दी तक हो चुकी थी,पर इसके कुछ अंश बाद में संशोधित और परिवर्धित होते रहे।[4]

---

1. ना० पु०, पृ० 195
2. भा० पु० पृ० 755
3. वही 1/1/10
4. पु० वि० , पृ० 152
5. स्क० उप० , पु०, पृ० 166-167

लिङ्ग पुराण

यह पुराण स्वयम् ही यह साक्ष्य देता है कि इसमें ग्यारह हजार श्लोक संकलित हैं-"अत्रैकादशसाहस्रैः कथितो लिङ्गसंभवः।"[1] यह पुराण भागों में विभक्त है। इसके पूर्वभाग में एक सौ आठ तथा उत्तरभाग में पचपन अध्याय संकलित हैं। पूर्वभाग में शिव माहात्म्य के अनेक प्रसङ्ग ग्रन्थित हैं। जैसे लिङ्गोद्भव, लैङ्गिकसम्प्रदाय, शिवार्चनपद्धति, शैव सिद्धान्त, शिवावतार, शिव स्तुति, शिवसहस्रनाम, शिवमूर्ति प्रतिष्ठा, सर्ग, प्रतिसर्गात्मक पञ्चलक्षण, वाराहनृसिंहावतार की कथायें, हिरण्यकश्यपवध, जलन्धरवध, दक्षयज्ञध्वंस, मदनदाह आदि। इसके उत्तरभाग में पाशुपतव्रत, शिवतत्त्व विवेचन, दानविधि, योग ज्ञानादि अनेक विषय निरूपित किए गए हैं।

यह कहा जाता है कि मूल लिङ्ग पुराण सर्वथा लुप्त हो चुका है। यह संग्रह, जो वर्तमान में उपलब्ध है, अर्वाचीन और संकलित है। किसी संकलन में इसके उत्तरभाग में छियालीस अध्यायों की सूचना है।[2] इसके अन्तरङ्ग परीक्षण से यह अनुमान किया जाता है कि इसका उत्तरभाग अर्वाचीन है। कहा यह जाता है कि इस सम्पूर्ण पुराण का रचनाकाल एक नहीं हो सकता। प्रायः समीक्षाकार इसका रचना समय अष्टम्-नवम् शती निर्धारित करते हैं।[3]

---

1. वही, पृ० 2
2. लिङ्ग पु०, प्रस्ताविकम्
3. वही, प्रस्ताविकम्

वाराह पुराण

"चतुर्विंशतिवाराहम्"- श्रीमद् भागवतपुराण[1] तथा "चतुर्विंशतिसाहस्त्रं तौक्रं परमाद्भुतम्[2]" के अनुसार इस पुराण में पूर्व में चौबीस हजार श्लोक होने का संकेत मिलता है किन्तु वर्तमान समय में यह पुराण जिस रूप में उपलब्ध है उसमें 9654 श्लोक ही प्राप्त हैं। इसी प्रकार इस पुराण के अध्यायों की संख्या 217 है जिनमें से कुछ अध्याय पूरी तरह से गद्यमय शैली में लिखे गए हैं। और कुछ अध्याय ऐसे भी हैं जिनमें गद्य तथा पद्य का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। अध्याय संख्या, 81,83,86 आदि गद्य में ही ग्रंथित हैं। अध्याय संख्या 80,84,85 आदि गद्य और पद्य मिश्रित शैली में संकलित हैं। इस पुराण के दो प्रकार के संस्करण प्रमुख रूप से प्रचलन में हैं। इसका एक संस्करण गौड़ीय संस्करण कहलाता है और इसका दूसरा संस्करण दाक्षिणात्य संस्करण कहा जाता है। इस पुराण में दान की महिमा, दान की विधि, श्राद्ध और विविध कर्मों के विपाक, विश्व की सृष्टि का स्वरूप तथा भुवन कोश का वर्णन विधिपूर्वक किया गया है। इसके साथ ही इस पुराण में विष्णु के निमित्त किए जाने वाले अनेक व्रतों का विधान विस्तार पूर्वक वर्णित हैं। अनेकानेक तीर्थ और उनमें स्थापित मूर्तियों का भी विशेष विवरण और उनकी पूजा विधियों का वर्णन करना इस पुराण की विशेषता है। श्री पी० वी० काणे महोदय ने नन्दवर्धन नामक शकराजकुमार का सन्दर्भ देकर इस पुराण की जो रचना-तिथि निर्धारित की है, तदनुसार इसका रचना-समय दसवीं शती से पूर्व का होना चाहिए।[3]

1• वही, पृ० 755

2• वा० पु०, पृ० 195

3• ध० शा० इ० , पृ० 423

स्कन्द पुराण

"एकाशीतिसहस्राणि स्कान्दमुक्तं सुविस्तृतम्"- वायु पुराण का यह संकेत यह सिद्ध करता है कि इक्यासी हजार श्लोकों वाला यह पुराण परिमाण में सम्भवतः सबसे बड़ा पुराण हो सकता है।[1] इस पुराण में शिवपुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) द्वारा शिवतत्त्व का प्रतिपादन किए जाने से ही सम्भवतः इसका नाम स्कन्द पुराण हुआ है। इस पुराण की इस समय तीन संहिताएँ ही उपलब्ध हैं। सनत्कुमार संहिता, सूत संहिता तथा शंकर संहिता। पूर्व में वैष्णव संहिता, ब्राह्म संहिता तथा सौर संहिता के होने के भी संकेत मिलते हैं। शैव उपासना के सन्दर्भ में सूत संहिता अत्यधिक महत्व की है क्योंकि इसमें वैदिक और तान्त्रिक दोनों पद्धतियों की शिवोपासना का विधान वर्णित है। यह अनुमान किया जाता है कि नारदीय पुराण के संकलनकाल में स्कन्दपुराण सातखण्डों में विभक्त था। इसके ये खण्ड थे- महेश्वर खण्ड, वैष्णव खण्ड, ब्रह्म खण्ड, काशी खण्ड, अवन्ती खण्ड, नागर खण्ड तथा प्रभास खण्ड। कुछ विवेचक किरातार्जुनीयम् के कुछ अंशों को उद्धृत करते हैं और स्कन्दपुराण से उसका मिलान करके यह निरूपित करते हैं कि इनके वर्णन में समानता है। जैसे किरातार्जुनीयम् में कवि लिखता है कि सहसा कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए-"सहसा विदधीत न क्रियाम्। अविवेकः परमापदां पदम्।[2] इसी भाँति स्कन्दपुराण में भी वर्णन प्राप्त है-"सहसा न क्रियां कुर्यात् पदमेतन्महापदाम्।[3] श्री हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल दरबार की स्कन्दपुराण की जिस

---

1. वही, पृ0 195

2. वही, पृ0 39

3. वही, 12/6/79

प्राचीन प्रति का संकेत किया है, श्री पी0 वी0 काणे महोदय ने उसी प्रति को प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रतिमान के निरूपित करने का प्रयत्न किया है कि स्कन्द पुराण का रचना काल सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के बीच का होना चाहिए।[1]

वामन पुराण

मत्स्य महापुराण में पुराणों की जो गणना दी गई है तदनुसार गणनाक्रम में वामन पुराण चौदहवाँ पुराण उल्लिखित है। वहाँ पर यह लिखा गया है कि जिसमें ब्रह्मा ने त्रिविक्रम के माहात्म्य का आश्रय लेकर त्रिवर्गों का वर्णन किया है, उसे वामन पुराण कहते हैं। इसमें दस हजार श्लोक हैं और यह कूर्म कल्प का अनुगमन करने वाला मंगलदायी है-

> त्रिविक्रमस्य माहात्म्यधिकृत्य चतुर्मुखः ।
> त्रि वर्गमभ्यधात् तच्च वामनं परिकीर्तितम् ।।
> पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।।[2]

इस पुराण का काशिराजन्यास से प्रकाशित जो संस्करण प्राप्त है उसमें 5877 श्लोक उपलब्ध होते हैं। अन्य पुराणों की भाँति इसमें भी अनेकानेक प्राचीन कथाओं का संकलन किया गया है जिनमें त्रिविक्रम रूप भगवान की कथा महत्वपूर्ण रीति से वर्णित है। इस पुराण के रचनाकाल के विषय में भी पर्याप्त विचार

---

1. ध०शा०इ०, पृ०426
2. वही, पृ0 216

इतिहासविदों ने किया है और प्राय: जो इसकी रचना- तिथि स्वीकार की जाती है तदनुरूप इसे सातवीं आठवीं शताब्दी का माना जाता है।[1]

कूर्म पुराण

जिसमें कूर्मरूपी भगवान जनार्दन ने रसातल में इन्द्रद्युम्न की कथा के प्रसङ्ग में इन्द्र के पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का माहात्म्य का वर्णन ऋषियों से किया उसे कूर्म पुराण कहते हैं। यह लक्ष्मी कल्प से सम्बन्ध रखने वाला है और इसमें अठारह हजार श्लोक हैं-

> यत्रधर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले
> माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दन: ।
> इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्य: शक्रसन्निधौ ।
> अष्टादशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ।।[2]

श्रीमद् भागवत पुराण में पुराणों की जो संख्या दी गई है, तदनुसार यह पुराण सत्रहवें पुराण के रूप में गिना गया है।[3]

यह पुराण पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध के रूप में दो भागों में बाँटा गया है। इसके पूर्वार्ध में तिरपन अध्याय और उत्तरार्ध में 46 अध्याय प्राप्त हैं। पूर्वार्ध में सृष्टि वर्णन, वर्णाश्रमवर्णन, श्री कूर्म द्वारा देवीमाहात्म्य का वर्णन, दक्ष का शिव को श्राप देना, इक्ष्वाकु वंश वर्णन, प्रयागमाहात्म्य वर्णन, आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके उत्तरार्ध में प्रकृति पुरुष का विवेचन, ब्राह्मणादिकों के कर्तव्य, श्राद्ध विधि, यतिधर्म कथन, प्रायश्चित्त निरूपण, केदारतीर्थ वर्णन ,

---

1. पु0 सा0 , पृ0 63
2. म0 पु0 , पृ0 216
3. वही, पृ0 743

नर्मदामाहात्म्य आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

मत्स्य पुराण-

श्री मद्भागवतपुराण में मत्स्यपुराण का उल्लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण पुराण के रूप में प्राप्त होता है कि यह पुराण ही पुराण संहिता के नाम से स्मरणीय है-

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपुरुषः ।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्वमब्रवीत्।।
पुराणसंहिता दिव्यां सांख्ययोग क्रियावतीम्।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः ।।[1]

महाभारत में भी इस पुराण का उल्लेख महत्वपूर्ण रूप में हुआ है वहाँ पर भी यह कहा गया है कि इस पुराण को मत्स्यपुराण इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह मत्स्य से सम्बंधित है।[2] वामन पुराण में तो अन्य सभी पुराणों की अपेक्षा मत्स्य पुराण को श्रेष्ठ पुराण के रूप में कहा गया है। वहाँ पर यह वर्णन है कि मत्स्यपुराण अन्य सभी पुराणों में सर्वश्रेष्ठ है-

मुख्यं पुराणेषु यथैव मात्स्यं स्वायंभुवोक्तिस्त्वपि संहितासु।
मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव तिथीषु दर्शो विबुधेषु वासवः ।।[3]

अन्य पुराणों की भाँति इस पुराण में अनेकानेक विषयों का समावेश किया गया है तथापि कुछ विषयों की उपस्थापना में यह पुराण अत्यधिक श्रेष्ठ है।

- -

1• वही, पृ0 433

2• वही, 3/187/57-58

3• वाम•पु•, पृ0 25

उदाहरण के लिए ज्योतिष विषय पर इस पुराण ने जो उपस्थित की है, वह ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थों सूर्य सिद्धान्त तथा सिद्धान्त शिरोमणि जैसे ग्रन्थों के लिए भी आदर्श है। इस पुराण का श्राद्ध प्रकरण, राजनीति प्रकरण आदि भी अनेकानेक ग्रन्थों के लिए उपजीव्य है।

मत्स्यपुराण में प्रारम्भ में मत्स्यावतार की कथा, जल प्लावन की कथा तथा जलसंतरण की कथा ऐसी कथायें हैं जिनका वर्णन बाइबिल कुरान आदि में भी किसी न किसी रूप में किया गया है। मत्स्यपुराण के नीतिपरक कथनों के उदाहरण तो अनेक नीतिग्रन्थ रचयिताओं ने दिए हैं। काणे महोदय ने इस पुराण को सर्वाधिक सुरक्षित और प्राचीन पुराण मानकर इसका रचना समय दोसौ ईसवीय से चार सौ ईसवीय के मध्य स्वीकार किया है।[1]

गरुड़ पुराण

गरुड़ पुराण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण पुराण है क्योंकि इसका सम्मान और प्रचलन भारतीय समाज में बहुत अधिक रूप से है। इसके उत्तरार्ध में जो प्रेत - कल्प का कथानक है, उसे जीव के देहावसान के पश्चात् पाठ करके उसके तरण का विधान किया जाता है। इसका अभिप्राय इतना तो हो ही सकता है कि यह पुराण सामाजिक मान्यता के रूप में प्राचीन समय से मान्य है। श्रीमद् भागवत पुराण में जहाँ पर पुराणों की गणना की गई है वहाँ पर इसे छठवें पुराण के रूप में गिना गया है- ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।[2]

1• धा0 शा0 इ0, पृ0 420

2• वही, पृ0 743

इसी प्रकार से इसी पुराण में गरुड पुराण की श्लोक संख्या उन्नीस हजार बताई गई है।[1] जबकि मत्स्यपुराण में यह कहा गया है कि जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने गरुड कल्प के समय विश्वाण्ड से गरुड की उत्पत्ति के वृत्तान्त का आश्रय लेकर उपदेश दिया है, उसे इस लोक में गरुड पुराण कहते हैं, इसमें अठारह हजार तथा और एक हजार श्लोकों की संख्या कही गई है- तदष्टादशकं चैकं सहस्राणीह पठ्यते।[2]

यह पुराण वर्तमान समय में दो खण्डों में उपलब्ध होता है। इसके पूर्व खण्ड में रत्नादि परीक्षा, चिकित्साशास्त्र,शब्दशास्त्र, राजनीति शास्त्रादि विषयों का उल्लेख किया गया है। इसके उत्तरखण्ड में महत्वपूर्ण प्रेतखण्ड है,जो भारतीय समाज में श्रद्धापूर्वक सुना जाता है। हाजरा महोदय ने इस पुराण का रचना समय सातवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का निर्धारित किया है।[3] जबकि श्री काणे ने इसका रचना समय छठवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार किया है।[4]

ब्रह्माण्ड पुराण -

श्रीमद्भागवत् में अष्टादशवें पुराण के रूप में ब्रह्माण्ड पुराण का उल्लेख है और इसमें बारह हजार श्लोकों की संख्या का उल्लेख है किन्तु मत्स्यपुराण में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड का आश्रय लेकर वृतान्तों का वर्णन जिसमें किया है तथा जिसमें भविष्य कल्पों का विस्तार पूर्वक आख्यान

1. वही ,पृ0 755
2. वही, पृ0 217
3. स्ट0 पु0रि0,पृ0 143
4. ध0 शा0इ0,पृ0 414

सुना जाता है, उसे ब्रह्माण्ड पुराण कहा गया है। इस पुराण में बारह हजार दो सौ श्लोक हैं-

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्य मधिकृत्या ब्रवीत् पुनः ।
तच्च द्वादश साहस्त्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ।।
भविष्याणां च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तर : ।
तद् ब्रह्माण्डपुराणं च ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।।[1]

इस समय इस पुराण का जो प्रचलित रूप है और जिसे वेंकटेश्वर प्रेस ने छापा है, उसमें इस पुराण को प्रक्रिया , अनुषङ्ग, उपोद्घात तथा उपसंहार के रूप में चार भागों में बाँटा गया है। कूर्मपुराण में यह उल्लेख आया है कि किसी समय नैमिषारण्य क्षेत्र में ऋषियों का सत्र सम्पन्न हुआ था और उसी समय यह पुराण ऋषियों को सुनाया गया था।[2] इस पुराण की रचना-तिथि पर विचार करते हुए श्री काणे महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि इसकी रचना ईसवीय की चतुर्थ और छठवीं शती के बीच हुई होगी।[3]

---

1. वही , पृ0 217

2. वही, पृ0 156

3. ध0 शा0 इ0, पृ0 418

चतुर्थ अध्याय

(पुराणों में राष्ट्र और राष्ट्रियता)

चतुर्थ अध्याय

॥ पुराणों में राष्ट्र और राष्ट्रियता ॥

पुराण एवं राष्ट्रियभाव, भारतभूमि तथा इसकी विशेषतायें, मातृभूमि के प्रति महनीयभाव तथा स्वातन्त्र्य की कामना, देश ,जनपद और नगरों का वैशिष्ट्य। नदियों के प्रति पवित्रता तथा महनीयता के भाव, गंगा की महत्ता, यमुना, सरस्वती तथा दृषद्वती, नर्मदा तथा कावेरी । पर्वतों एवं वनों के प्रति महनीयभाव, हिमवान तथा सुमेरु, महामेरु,नील तथा विन्ध्य पर्वत, वनों की महत्ता, विश्लेषण। तीर्थों के प्रति समादर, प्रयाग क्षेत्र, काशी क्षेत्र, पुष्कर क्षेत्र, विश्लेषण । राज्य तथा राजा, विश्लेषण। सर्वमंगल संस्कृति एवं धर्म ,सर्वमंगल कामना, समीक्षा।

****

चतुर्थ अध्याय

(पुराणों में राष्ट्र और राष्ट्रीयता)

पुराण एवं राष्ट्रभाव :-

भारतीय परम्परा में पुराण भारतीय-विचारों के ऐसे अजस्त्र स्त्रोत हैं जिनमें न केवल सभ्यता और संस्कृति की अनुपम घटा देखी जा सकती है, अपितु इनके द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक जीवन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसका अवलोकन भी किया जा सकता है, इनकी विशेष विशेषता यह है कि वैदिक वाङ्मय में धर्म और कर्म का जो विवरण अपेक्षाकृत दुरूह रूप में वर्णित किया गया है, इन पुराणों में उसे नितान्त सरलीकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है और इसी कारण से इन्हें सामान्य जन में अधिक आदर के साथ स्वीकृत किया गया है। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के साथ मानवीय उपासना के सम्पूर्ण स्वरूप को उपस्थित करने में जैसी सफलता पुराणों को प्राप्त हुई है, वैसी सफलता संस्कृत साहित्य के अन्य वाङ्मय को प्राप्त नहीं है। पुराणों के माध्यम से यदि एक ओर भारतीय भूगोल का अनुपम स्वरूप देखा जा सकता है, तो दूसरी ओर इन्हीं पुराणों के माध्यम से भारत के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास की झलक भी देखी जा सकती है। इसमें हमारा सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचारधारा का जो स्वरूप विकसित हुआ है और जो स्वरूप आज भी अवशिष्ट है, उसकी बराबरी अन्य किसी माध्यम से नहीं देखी जा सकती है।

यद्यपि कुछ समालोचक और विचारक यह कहते हैं कि पुराणों की शैली अतिरंजनापूर्ण है और इनके वर्णनों को पूरी तरह से स्वीकार्य नहीं माना जा सकता फिर भी, उनकी इस धारणा में आंशिक सत्यता होने पर भी यह कहा जा सकता है कि इन पुराणों में भारतीय परम्परा को, भारतीय चिन्तन को और भारतीय गौरव को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, और उसे अक्षुण्ण रखा गया है, वह

वरेण्य है और हमारा आदर्श भी है। इस रूप में भारत राष्ट्र के और राष्ट्रीय भाव के प्रतीक भूमि,पर्वत ,वन,नगर,भाषा, भाव, संस्कृति ज्ञान और विज्ञान के भावों के बीज इन पुराणों में देखे जा सकते हैं और इनसे हम इस राष्ट्र के स्वरूप और उसकी राष्ट्रीयता के श्रेष्ठ भावों को समझ सकते हैं।

भारत भूमि तथा इसकी विशेषतायें-

पुराणों में,और लगभग सभी पुराणों में भारत भूमि का वर्णन विस्तार से किया गया है। इस भूमि के विस्तार को और इसमें स्थित पर्वतों नदियों एवं निवासियों की स्थिति का वर्णन करते हुए इसकी उत्कृष्टता का भी वर्णन किया गया है। जैसे विष्णु पुराणकार भारत भूमि के परिचय का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण भूभाग में स्थित भारतवर्ष कहा गया है। इसमें निवास करने वाले भारतवर्षीय हैं । यह नौ हजार योजनवाली स्वर्ग अथवा मोक्ष की कामना करने वाले संतों की कर्म भूमि है। इसमें महेन्द्र,मलय ,सह्य,शुक्तिमान,ऋक्ष,विन्ध्य और परियात्र पर्वत स्थित हैं। मनुष्य इस भूमि पर रहकर शुभ कर्म करके स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है या कि वह अपने कर्मों से ही नरक अथवा तिर्यक्योनि को प्राप्त हो सकता है। इसके महत्व का आख्यान पुराण इस रूप में करता है कि यहीं से स्वर्ग,मोक्ष, अन्तरिक्ष या पाताल आदि लोकों को पाया जा सकता है। इस देश के अतिरिक्त पृथिवी के अन्य किसी भी देश में कर्म का विधान नहीं है। भारत वर्ष के इस क्षेत्र को नवमद्वीप बताया गया है जिसका विस्तार उत्तर से दक्षिण तक हजार योजन मात्र का है। इसके पूर्वीय प्रदेश में किरात और पश्चिम

प्रदेश में यवन रहते हैं।[1]

भारत वर्ष की इसी स्थिति का वर्णन मत्स्य पुराण में भी दृष्टिगत होता है। वहाँ पर भी कहा गया है कि इस भूतल की प्रजाओं की सृष्टि करने तथा इनका पालन पोषण करने के कारण मनु को भरत कहा जाता है। उन्हीं के नाम पर भारत को भारतवर्ष कहा जाता है।[2] यहाँ यह ध्यातव्य है कि अन्यत्र पुराणों में ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर ही देश का नाम भारत कहा गया है। नाभि से अजनाभ तथा उनके पोते भरत से देश का नाम भारत पड़ा। मनु इनके भी पूर्वज थे, इसलिए यह कथन कि मनु के भरण-पोषण करने के कारण उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। पाश्चात्य विद्वानों ने शकुन्तला-पुत्र के नाम पर भारत का नाम होना बताया है।जो ठीक नहीं है, किन्तु आज उसी का बहुतायत से प्रचार है।[3] इसी भाँति अन्य महापुराणों में भी हम देखते हैं कि इस भारत भूमि का परिचय और इसकी विशेषताओं का वर्णन विस्तार से किया गया है।

---

1. उत्तरंयत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति:।।
नव योजन साहस्त्रों विस्तारोऽस्यमहामुने।कर्मभूमिरयं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।।
महेन्द्रो मलय: सह्य: शुक्तिमानृक्षपर्वत:।विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वता:।।
अत:सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयान्ति वै।तिर्यक्त्वंनरकं चापि यान्त्यत:पुरुषा मुने ।।
इत:स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यंचान्तश्च गम्यते।न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते।।
योजनानां सहस्त्रं तु द्वीपस्तु दक्षिणोत्तरात्। पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवना: स्थिता:।।

विoपुo(प्रo),पृo 260

2. अथाहं वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन् भारते प्रजा:।
भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ।। मoपुo(1),पृo 384

3. वही ,द्रष्टव्य टिप्पणी ,पृo 384

जैसे कि विष्णु पुराण से मिलते-जुलते वर्णन के सदृश ही ब्रह्म पुराण में भी भारत-भूमि का विस्तार से वर्णन है और इस भूमि की विशेषताओं का उल्लेख है। वहाँ वर्णित है कि सागर से उत्तर दिशा की ओर हिमालय से दक्षिण दिशा की ओर भारतवर्ष स्थित है। यह देश नवहजार योजन के विस्तारवाला है। यह ऐसी भूमि है कि यहाँ पर अपने कर्म से ही व्यक्ति स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यहाँ से स्वर्ग, मोक्ष, अन्तरिक्ष और पाताल आदि को पाया जा सकता है और यह प्राप्ति अपने कर्मों से सम्बंधित है। अन्यत्र कोई ऐसी भूमि नहीं है जो कर्म करने वालों के लिए इस प्रकार से उपलब्ध हो। इस भारतभूमि पर गोदावरी, कृष्णा आदि नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं जिसका पावन जल यहाँ के निवासी पीते हैं और हृष्ट-पुष्ट रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस भूमि पर रहकर तपस्वी तप करते हैं, होता अनेकानेक प्रकार से यज्ञ करते हैं और परलोक के प्रति आदर - भाव रखने के कारण लोग यहाँ पर दान देते हैं। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में यह भारतभूमि इसलिए श्रेष्ठ हैं क्योंकि यही एकमात्र कर्मभूमि है और शेष भोगभूमियाँ है। देवता भी इस भारतभूमि का गायन करते हैं कि यह भारतभूमि धन्य हैं क्योंकि यह स्वर्ग, अपवर्ग आदि की प्राप्ति की हेतु भूमि है।[1]

- -

1. उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे। वर्षं तद् भारतंनाम भारती यत्र संततिः।।
नवयोजनसाहस्त्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः। कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च
इच्छताम् ।।

××× ××× ×××

2. इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यंचान्तो च गच्छति।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते ।।

××× ×××× ×××

आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा।
समोपेता महाभागा हृष्टपुष्ट जनाकुलाः।।

××× ××× ×××

तपस्तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्वनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्।।

××× ××× ×××

गायन्ति देवाकिल गीतिकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः मनुष्याः।। ब्र०पु०19/1-26

इस रूप में जो भारतभूमि का वर्णन किया गया है उसका वैशिष्ट्य यह है कि यह भूमि भोग भूमि नहीं है, जहाँ के निवासियों के लिए करने को कोई कार्य ही शेष न हो। यह तो ऐसी कर्मभूमि है जहाँ जन्म लेकर व्यक्ति जो चाहे, अपने कर्म के बल पर वह प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि कर्म से ही मोक्ष की भी प्राप्ति सम्भव है, जो मनुष्य के जीवन का श्रेष्ठतम् और अन्त्यतम् पुरूषार्थ है। इसी रूप में यह भारतभूमि वरेण्य और आदर्श है।

अब यदि इसी तरह से अन्य पुराणों में भारत भूमि के स्वरूप और विस्तार का अवलोकन करें तथा उसकी महिमा का अनुभव करना चाहें तो हमें यह दिखाई देता है कि थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ भारत के सन्दर्भ में इसी प्रकार का वर्णन किया गया है। जैसे वायुमहमपुराण में ऋषियों ने जब भारतवर्ष के सम्बंध में प्रश्न किये तब सूत जी ने कहा कि जो भूमि हिमालय और समुद्र के बीच में है तथा जहाँ की प्रजा भारती कही जाती है वह भारत वर्ष है। प्रजा का भरण-पोषण करने के कारण मनु को भरत कहा जाता है। इसलिए निरूक्त वचनों के कारण इसका नाम भारतवर्ष है। यहाँ से स्वर्ग, मोक्ष, आन्तरिक्ष आदि में जाना सम्भव है, क्योंकि कर्मभूमि है और इसके अतिरिक्त अन्य कोई कर्मभूमि नहीं है। इस भारतवर्ष के नव भेदों को कहा गया है जो समुद्र से संवलित हैं और परस्पर अगम्य हैं। इस भारत वर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र निवास करते हैं जो यज्ञ, युद्ध और वाणिज्य आदि के द्वारा अपना अपना कर्म सम्पादित करते हैं। इसी प्रकार से इनके लिए आश्रमों की संकल्पना है जो अपने अपने आश्रमों में निरत रह कर स्वर्ग और अपवर्ग की अपनी प्रवृत्ति का अनुगमन करते हैं। इस प्रकार की इस

भूमि और अधिक वर्णन इस पुराण में किया गया है।[1]

इसी प्रकार से यदि श्रीमद्भागवत् के भारतभूमि के वर्णन को देखा जाए तो वहाँ पर इस भूमि के पर्वतों, नदियों के वर्णन के साथ-साथ इस भूमि में रहने वाले लोगों के कर्म की शक्ति के वर्णन के साथ यह भी कहा गया है कि अपने-

---

1. उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत् ।
वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा।।
भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ।
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम्।।
ततः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते।।
भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्तिताः।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः।
इज्यायुद्धवणिज्याभिर्वर्तयन्तो व्यवस्थिताः ।।

वही, पृ० 64

अपने वर्ण के अनुरूप कर्म करते हुए अपवर्ग की प्राप्ति का कथन किया गया है।[1] इसी प्रकार से मिलते-जुलते रूप में ही अन्य स्थानों पर भी भारतभूमि के विस्तार का, उसके स्वरूप का और उसके पर्वत, नदियों, वनों, निवासियों तथा उनके द्वारा कर्म से प्राप्त किये जाने वाले स्वर्गापवर्ग आदि का वर्णन किया गया है और इस भूमि को इस रूप में चित्रित किया गया है जिससे यह श्रेष्ठ भूमि के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।[2]

- -

1. भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैला: सन्ति बहवो मलयो मंगलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभ: कूटक: कोल्लक: सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूक: श्रीशैलो वेंकटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्य: शुक्तिमानृक्षगिरि: पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतक: ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकील: कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रश: शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसंख्याता:। एतासामपो भारत्य: प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति। चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णा वेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्ध: शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती सप्तवती सुषोमा शतद्रु चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्य:। अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभि: शुक्ललोहित कृष्ण वर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्य-मानुष नारक गतयो बह्व्य: आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्ण विधानमपवर्गश्चापि भवति।। भा० पु० , पृ० 290

मातृभूमि के प्रति महनीयभाव तथा स्वातन्त्र्य की कामना

अपनी इस भारत भूमि का भौगोलिक तथा प्राकृतिक विस्तार एवं स्वरूप-पुराणों में तो प्राप्त है, ही, इसके साथ ही साथ पुराणों में इस भूमि के प्रति इतना अधिक आदर और महनीयता का भाव है कि पुराणकार यहाँ तक कह देते हैं कि देवता भी स्वर्ग से आकर भारत भूमि में अवतार लेना चाहते हैं और इसी से स्वयं को धन्य मानते हैं। इसीलिए कहते हैं कि भारतभूभाग प्रशंसा के योग्य है क्योंकि देवता इसकी प्रशंसा करते हैं। अपने भोग के क्षय हो जाने से भीरु हुए देवता इस कर्मभूमि को श्रेष्ठ समझते हैं। यह इसलिए पुण्यभूमि है क्योंकि सभी प्रकार के कर्म करके व्यक्ति उनके द्वारा फल प्राप्त कर सकता है। यह भारत नाम का भू-भाग देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।[1] यही सन्दर्भ देता हुआ पुराणकार और कहता है कि जो भारत भूमि पर शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है, वह उसके फल का भोग तब तक करता है जब तक वह क्षीण नहीं हो जाता । आज भी देवता यह इच्छा करते हैं कि हम कब अपने महत् पुण्यफल से भारतभूमि में जन्म ग्रहण करेंगे, दान से , विविध यज्ञों के सम्पादन से तप आदि से कब हम वह देख सकेंगे जिसे सुर पुरुष अपने सुकर्म से देखते है, जो इस भारतभूमि में जन्म प्राप्त करके विष्णु पूजा में संलग्न होता है उसके सदृश इस भूमि पर कोई नहीं है और वह ऐसा है जैसे सूर्य का तेज। जो कोई भारत में जन्म लेकर सुकर्म से पराङ्मुख

1- एवं भारतभू भागं प्रशंसन्ति दिवौकसः ।
सनत्कुमार प्रमुखाः स्वभोगक्षय भीरव: ।।
तस्मात् पुण्यतमो ज्ञेयः सर्वकर्म फलप्रद: ।
भारताख्यो महाभाग देवानामपि दुर्लभ:।।

बृ०ना०पु०, 3/74

हो जाता है वह ऐसा कार्य करता है जैसे कोई अमृत कलश का त्याग करके विष के कलश को स्वीकार कर लेवे।[1]

इसी प्रकार से मार्कण्डेयपुराण में भारत वर्ष की भौगोलिक अवस्था का वर्णन किया गया है और यह कहा गया है कि देवताओं का भी यही मनोरथ होता है कि हम देवत्व से च्युत होकर पृथिवी पर मनुष्य के रूप में अवतरित होवें, क्योंकि भूतल में मनुष्य रूप में रहकर वह जो कुछ कर सकता है, वह कार्य सुर और असुरों में से कोई भी नहीं कर सकता है।[2] इस रूप में पुराणकार बार बार यह कहते हैं कि यह भारतभूमि इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि देवता भी यहाँ आकर

1· भारतेतु कृतं शुभं वाशुभमेव वा।
आपसक्षयणं भुज्यते न्यत्र जन्तुभि:।।
अथापि देवा इच्छन्ति जन्म भारतभूतले।
कदा पुण्येन महता प्राप्स्याम: परमं पदम्।।
दानैर्वा विविधैर्यज्ञैस्तपोभिर्वाहिधशायिनम्।
पूजयित्वा कदा यामो यद् वै पश्यन्ति सूरय:।।
यो भारतभुवं प्राप्य विष्णुपूजापरो भवेत्।
न तस्य सदृशस्त्वास्ति यथा वै रघितेजस:।।
संप्राप्य भारतं जन्म सुकर्मसु पराङ्•मुख:।
पीयूषकलशं त्यक्त्वा विषभाण्डंस मार्गति।। वही, 3/50-73

2· एतत् भारतं वर्ष चतु:संस्थानसंस्थितम् ,दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधि:।।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथागुण:,तदेतद्भारतं वर्ष सर्वबीजं द्विजोत्तम।।
. . . . ; देवानामपि च विप्रर्ष सदैव मनोरथ : ।।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात्प्रच्युत: क्षितौ। मनुष्य:कुरुते तंतु यन्न शक्यं
सुरासुरै:।। मार्क०पु० 57/58-63

हर्षित होते हैं राष्ट्रीय महनीयता की इस भावना का परम विकास हमें उस रूप में देखने को मिलता है, जिसमें पुराणकार इस भूमि के स्वातन्त्र्यभाव को देखना चाहते हैं। इसी दृष्टि से वे यह कहते हैं कि वे लोग इस भूमि पर भाग्यवान् हैं, जो देश के भंग स्वरूप को नहीं देखते, जो अपने कुलक्षय को नहीं देखते, जो लोग अपनी पत्नी के चित्त को पर-पुरुष में लगा हुआ नहीं देखते तथा जो अपने पुत्र को व्यसन में पड़ा हुआ नहीं देखते।[1] इस रूप में हम यह देखते हैं कि अपने देश का खण्डित होना और उसे खण्डित होने के रूप में कल्पित करना, कितना पीड़ाकारक है। इसलिए पुराणरचनाकार यह चाहते हैं कि उनका राष्ट्र कभी खण्डित न होये और उन्हें कभी भी अपने राष्ट्र को खंडित होता हुआ न देखना पड़े।

इसी तरह से पुराणों में यह भावना भी बलवती है कि स्वाधीनता ही जीवन में सफलता की कुंजी है, और पराधीनता तो ऐसी है, जैसे जीवन का मृत हो जाना। इसी दृष्टि से एक स्थान पर यह कहा गया है कि स्वाधीन-वृत्ति ही सफलता है, पराधीन वृत्ति सफलता नहीं दे सकती, क्योंकि जो परा-धीनवृत्ति से कर्म में प्रवृत्त हैं वे जीवित रहते हुए मृतक के समान हैं।[2] इस रूप में हम यह देखते हैं कि स्वाधीनवृत्ति के प्रति पौराणिक रचनाकारों के मन में अत्यधिक आदर व निष्ठा का भाव है। वह यह अनुभव व विश्वास करते हैं कि कोई भी राष्ट्र अपना किसी भी राष्ट्र का निवासी तभी सफलता पा सकता है जब वह पूरी तरह से स्वाधीन हो, फिर भारत राष्ट्र के सम्बंध में तो इनका ... विचार है कि इस राष्ट्र का वैशिष्ट्य ही तब है जब यह स्वाधीन

---

1. धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभंगं कुलक्षयम् ।
   परचित्तगतान्दारान् पुत्रं कुव्यसने स्थितम्।। ग०पु० पूर्व खण्ड ।।5/3

2. स्वाधीनवृत्तेः साफल्यं न पराधीनवृत्तिता।
   ये पराधीन कर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः।। वही ।।5/37

है। वे पराधीनवृत्ति से जीवन जीने वाले को जीवित ही नहीं मानते। सम्भवत: यह पुराणकारों की ही भावना है अथवा यह कह सकते हैं कि यह उनका ही प्रखर राष्ट्रवाद है जिसमें वे स्वतंत्रता को मनुष्यता का पर्यायवाची बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे यह निरूपित करते हैं कि जो स्वतंत्र हैं वही सही अर्थों में मनुष्य है क्योंकि मनुष्यता-सद्गुणों का प्रयोग भी सम्भवत: वही कर सकता है। इसी दृष्टि से एक स्थान पर पुराणकार ने स्पष्ट रूप में कहा है कि जो नर परतंत्र है वह कैसे मनुष्य है अर्थात् उसकी कैसी मनुष्यता है।[1]

सुराज्य, स्वराज्य और स्वतंत्रता की यह भावना क्यों है, पुराणकारों के मन में इसका भी संकेत हम उनके कथन से देख सकते हैं। एक पुराणकार यह कहते हैं कि मनुष्य को जीवन कुराज्य में सम्भव नहीं है।[2] अर्थात् यदि सुराज्य अथवा स्वराज्य हमें प्राप्त नहीं है, तो भला हमारा जीवन कैसे हमारा होगा। इसका अभिप्राय यह है कि जिसे मनुष्य का जीवन कहते हैं और जिससे मनुष्य की मनुष्यता विकसित हो सकती है, वह जीवन तो सुराज्य प्राप्ति में ही सम्भव है, कुराज्य में भला ऐसे जीवन की सम्भावना कैसे हो सकती है।

और पुराणकारों का यह जीवन या सुराज्य किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं है, किसी एक वर्ग के लिए नहीं है, अपितु उनका स्वराज्य सभी की मंगल कामना की अपेक्षा करता है और इस रूप में हम यह देखते हैं कि पुराणकारों ने अपनी विचारधारा के अनुरूप जहाँ भारत भूमि के प्रति अपनी सबसे बड़ी महनीय भावनाओं को व्यक्त किया है, वहीं उन्होंने इस राष्ट्र से स्वातन्त्र्य की भावना को भी स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है और उनकी इस

---

1. नरो पि परतन्त्रो यस्तस्य कीदृङ्मनुष्यता ।।

मार्क०पु० 124/29

2. कुराज्ये नास्ति जीवितम् ।।

ग०पु०पूर्वखण्ड 115/4

भावना का उत्कर्ष इस रूप में दृष्टिगत होता है जब वे सुराज्य अथवा स्वराष्ट्र के भाव को मनुष्यता का पर्याय बताते हैं।

देश जनपद और नगरों का वैशिष्ट्य :-

पुराणों में प्राय: पृथिवी का भूगोल और सृष्टि के विस्तार के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में जहाँ भूमि के विस्तार का परिचय है, वहीं पर अनेकानेक द्वीपों की गणना की गई है और इन द्वीपों की सीमा का उनमें रहने वाले निवासियों का तथा उनकी विशेषताओं का कथन किया गया है जबकि नैमिषारण्य क्षेत्र में एकत्रित ऋषियों ने सूत जी से प्रश्न किया कि हे सूत जी! इस भूतल पर कितने द्वीप हैं? तो इसका उत्तर देते हुए श्री सूत जी ने कहा कि द्वीपों के तो हजारों भेद हैं जिनका क्रमश: वर्णन करना तो सम्भव नहीं है इसलिए चन्द्रमा ,सूर्य आदि ग्रहों के साथ उन सात द्वीपों का ही वर्णन कर रहा हूं और सूत जी ने जिन सात द्वीपों का वर्णन किया है वे हैं- जम्बूद्वीप, जिसका विस्तार एक लाख योजन है यह अनेकों प्रकार के धातुओं से युक्त है।[1] यह अनेक प्रकार के पर्वतों से सुशोभित है । इसी

1· द्वीप भेद सहस्राणि सप्त चान्तर्गतानि च।
सप्तैव तु प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यग्रहै:सह ।।
x x x x
सप्तवर्षाणि वक्ष्यामि जम्बूद्वीपं यथाविधम् ।
विस्तारं मण्डलं यच्च योजनैस्तान्निबोधत ।।
योजनानां सहस्राणि शतं द्वीपस्य विस्तर:।
नानाजनपदाकीर्ण·पुरैश्च विविधै: शुभै :।।
सिद्ध चारणसंकीर्णं पर्वतैरुपशोभितम् ।
सर्वधातुपिनद्धैश्च: शिलाजालसमुद्गतै: ।।
म·पु·|||,पृ0 377

भाँति से इलावृत नामक द्वीप आदि का वर्णन भी किया गया है और उनके विस्तार तथा उनके नगरों एवं जनपदों की विशिष्टताओं का उल्लेख किया गया है।

बाद में ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर में श्री सूतजी ने भारतवर्ष का वर्णन करते हुए कहा कि इस भारतवर्ष के नौ भेद हैं और ये हैं-इन्द्रद्वीप,कसेरु-मान्,ताम्रपर्ण ,गभस्तिमान्,नागद्वीप, सौम्यद्वीप,गान्धर्वद्वीप तथा वारुणद्वीप इनमें से समुद्र से घिरा हुआ यह भारतद्वीप है। यह द्वीप दक्षिण से उत्तर तक एक हजार योजन में फैला हुआ है। इसका विस्तार गंगा के उद्गम स्थान से लेकर कन्याकुमारी तक फैला है। यह तिरछे रूप में ऊपर ही ऊपर दस हजार योजन विस्तृत है।[1]

इसके पश्चात् इस भारतवर्ष के भिन्न प्रदेशों की स्थिति का वर्णन किया गया है और जिन्हें पुराणकार जनपदों के नाम से कहता है,उनका विस्तार और वैशिष्ट्य भी हमारी इस भूमि की विशिष्टता के साथ ही अंकित किया जा सकता है। इससे देश की विशालता और रम्यता प्रतीत होती है।

मत्स्य पुराण में यह वर्णन आया है कि इस देश में जो सहस्त्रों की संख्या में पुण्यतोया नदियाँ बह रही हैं और जिनकी अनेकों सहायक नदियां हैं, उनके किनारों पर कुरु,पाञ्चाल,शाल्व,सजाङ्गल,शूरसेन,भद्रकार वाह्य ,सहपटच्चर,किरात,कुन्ती,कुन्तल ,काशी,कोसल,आवन्त,कलिङ्ग,मूक

- -

1• आयतस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः ।
तिर्यगूर्ध्वं तु विस्तीर्णः सहस्त्राणि दशैव तु।। वही,पृ0384

और अन्धक बसे हैं। ये प्राय: मध्यदेश के जनपद कहे जाते हैं। ये सभी सह्यपर्वत के निकट बसे हुए हैं ,जहाँ गोदावरी नदी प्रवाहित होती है। सम्पूर्ण भूमण्डल में यह प्रदेश अत्यन्त मनोरम है[1]। इन प्रदेशों अथवा जनपदों में से पुराणकार जब काशी क्षेत्र का वर्णन करते हैं तो कहते हैं कि यहाँ शिव का मंगलकारी निवास स्थान है। यह तीनों लोकों का सार स्थान है, जो इस क्षेत्र में निवास करते हैं, उनके कर्म- समूह पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाते हैं। काशी नगरी का विस्तार पूर्व से पश्चिम तक दस कोश एवं दक्षिण से उत्तर तक दो कोस है। काशी में जो "असी" नाम की नदी है। वह पिंगला-नाड़ी के समान है और वरुणा नदी इड़ा नाड़ी के समान है। इन्हीं वरुणा और असी नदियों के संगम पर बसे होने के कारण इसका नाम वाराणसी है । इन नदियों के बीच में जो मत्स्योदरी है वही सुषुम्ना नाड़ी के तुल्य है। काशी के योगपीठरूप श्मशान तीर्थ को मणिकर्णिका कहते हैं। अपने कर्म से पतित हो जाने वाले की यहाँ मुक्ति होती है।[2]

1- तासाम् नद्युपनद्यश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
   तास्विमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वाश्चैव सजाङ्गलाः ।।
   शूरसेना भद्रकारा बाह्याः सहपटच्चराः ।
   मत्स्याः किराताः कुन्त्याश्च कुन्तलाः काशिकोसलाः ।।
   आवन्ताश्च कलिङ्गाश्च मूकाश्चैवान्धकैः सह।
   मध्यदेशा जनपदाः प्रायशः परिकीर्तिताः ।।
   सह्यस्यानन्तरे चैते यत्र गोदावरी नदी।
   पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ।। म0पु0 ।। ,पृ0 386

2- ना0पु0 (पू0) ,पृ0503

मत्स्य पुराण में आगे और प्रदेशों, देशों एवं जनपदों की स्थिति का और उनकी मनोरमता का वर्णन विस्तार से नाम लेकर किया गया है। जैसे यह कहा गया है कि बाह्लीक, सिन्धु[सिंध]सौवीर [सिन्ध का उत्तरी भाग], मद्रक [पंजाब का उत्तरी भाग], शक, हूण [पश्चिमी पंजाब] आदि क्षत्रियों और वैश्यों के निवास स्थान हैं और कम्बोज, पह्लव[ईरान] आदि देश उत्तरापथ के देश हैं। अंग, वंग [बंगाल, ब्रह्म [उत्तरी असम] प्राग्ज्योतिष [आसाम का पूर्वी भाग], पुण्ड्र[बंगलादेश], विदेह [मिथिला] आदि पूर्व के जनपद हैं। पाण्ड्य, केरल, चोल, कलिंग [उड़ीसा], वैदर्भ आदि दक्षिण पथ के देश हैं। भारुकच्छ, माहेय, सारस्वत, कौशल, अवन्ति, आदि को विन्ध्यपर्वत की घाटियों में अवस्थित बताया गया है। निराहार, सर्वग, कुपथ आदि पर्वतों पर अवस्थित देश हैं। इन सभी जनपदों, देशों और प्रदेशों का वर्णन करने के बाद सूत जी ने कहा है कि इनकी विशेषता और महत्व का अंकन इस रूप में किया जा सकता है कि इन सभी में श्रेष्ठ प्राणियों का निवास है तथा मंगल की कामना करने वाले पुरुष को श्रद्धा करनी चाहिए[1]।

एक अन्य स्थान पर भुवनकोश वर्णन के सन्दर्भ में उपरिलिखित वर्णन के अनुसार ही यह कहा गया है कि इस देश की अनेकानेक नदियों तथा उपनदियों के तट पर कुरु पांचाल आदि देश अवस्थित हैं, जो मध्य क्षेत्र के देश कहे जाते हैं। इसके बाद पुण्ड्र, कलिंग, मगध आदि दक्षिणात्यदेश हैं। ये सभी इस जम्बूद्वीप के स्थान हैं। इनमें प्रजा स्वस्थ निरातंक, सभी प्रकार के दुःखों से निर्मुक्त रहती है।

है --

1. तेषां बुद्धिर्बहुविधा दृश्यते देवमानुषैः।
आनन्त्या परिसंख्यातुं श्रेया च बुभूषता।।
म0पु0[1], पृ0 389

और स्थिर यौवन होकर विविध आनन्द के भावों से रहती है।[1]

इसी प्रकार से जब पुराण में मन्दाकिनी तथा उसकी सहायक नदियों के तट पर बसे हुए नगरों और जनपदों का वर्णन किया गया है तो उनकी महत्ता को इस प्रकार से रेखांकित किया गया है जिससे वे विशिष्ट जनपद, देश और प्रदेश के रूप में देखे जा सकते हैं। महामुनि सूत कहते हैं कि इनके तट पर देवताओं के स्थान, ब्रह्मा का स्थान, रुद्र का स्थान तथा अन्यान्य देवताओं के स्थान हैं जिनके बड़े-बड़े भवन रत्नों से मण्डित हैं। स्फटिक मणियों से सुसज्जित उन भवनों के स्तम्भ हैं, जो पवित्र और अनेकानेक रत्नों से अलंकृत हैं। इसी भाँति से अन्य भूद्वीपों में भी जो जनपद है, उनकी वीथियां चारों ओर सुशोभित हैं, और भवन-सोपान रत्नमण्डित हैं। वहाँ हंस, कारण्डव, चक्रवाकों का वास होता रहता है तथा नाना विलास से सम्पन्न नर-नारी आनन्द के रस में निमग्न रहते हैं। सुन्दर, शरीर सौष्ठव वाली रमणियों का रमणीय रूप देखते ही बनता है।[2]

---

1. तास्त्विमे कुरूपा पाला मध्यदेशादयो जनाः।
   पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः॥
   पुण्ड्राः कलिंगा मगधा दक्षिणात्याश्च कृत्स्नशः॥
   तथापरान्ताः सौराष्ट्राः शूद्रा हीनास्तथार्बुदाः॥
   x x x x
   स्वस्थाः प्रजाः निरातंकाः सर्वदुःख विवर्जिताः।
   रमन्ते विविधैर्भावैः सर्वाश्च स्थिरयौवनाः॥ कू० पु०, पृ० 82-83

2. तासां कूलेषु देवस्य स्थानानि परमेष्ठिनः।
   देवर्षीणां सुष्टानि तथा नारायणस्य तु॥
   तत्र शक्रस्य विपुलं भवनं रत्नमण्डितम्।
   स्फटिक स्तम्भ संयुक्तं हेमगोपुर शोभितम्॥
   x x x x
   पुण्यं च भवनं रम्यं सर्वरत्नोपशोभितम्। कू०पु०, पृ०83
   x x x x
   सरोभिः सर्वतो युक्तं वीणावेणु निनादितम्।
   पताकाभिर्विचित्राभिरनेकाभिश्च शोभितम्॥
   x x x x
   हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम्। वही, पृ० 86

मार्कण्डेय पुराण में भी पृथिवी के सभी महत्व के देशों का तथा प्रदेशों का वर्णन किया गया है और यह वर्णन लगभग वैसा ही है जैसा मत्स्य पुराणादि में किया गया है। मत्स्य ,अश्वकूट, कुल्या, कुण्डल, काशी और कोशल आदि देश मध्य क्षेत्र के देश कहे गए हैं। गोदावरी का क्षेत्र भूमि का सर्वाधिक रमणीय क्षेत्र कहा गया है। तामस, हंसमार्ग,काश्मीर शूलिक, कुहिक, ऊर्ण और दर्श नामक देश उत्तर क्षेत्र के कहे गए हैं। प्राग्ज्योतिष, भद्र ,विदेह, ताम्रलिप्तक ,मल्ल, मगध गोमन्तक आदि पूर्वदिशा के देश हैं। इसी तरह पाण्डव ,केरल ,चोल आदि देशों को दक्षिणात्य देश कहा गया है । इसी तरह से वहाँ पर अन्य सभी देशों का आख्यान किया गया है।[1]

इस रूप में भारत की भूमि के देश, जिन्हें आज की स्थिति में प्रदेश कहा जायेगा और जनपदों का वर्णन न केवल विस्तार से किया गया है, अपितु उनके वर्णन के साथ उनकी विशिष्टताओं का भी उल्लेख किया गया है , जैसे यह कहा गया है कि वे स्थान अत्यधिक रमणीय हैं और वहाँ के निवासी आनन्दपूर्वक रहते हैं । चारों ओर पक्षियों का कलरव होता रहता है और वहाँ की रमणियाँ अत्यधिक सौन्दर्यशील हैं। वहाँ के लोग ऐसे हैं जो अपने पुरुषार्थ से अपने लिए मनोवांछित फल प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए ऐसे प्रदेशों में ,ऐसे देशों में और ऐसे जनपदों में जन्म लेने के लिए देवता भी सदा आकांक्षा करते रहते हैं क्योंकि देवता केवल देवता रहकर भोग तो भोग सकते हैं कोई क्रिया नहीं कर सकते हैं।

1- मत्स्याश्वकटाः सन्ति सदाकाशवहाश्च याः ।
गान्धारयवनाश्चैव सिन्धु सौवीरमद्रका : ।
प्राग्ज्योतिषाश्चभद्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः। मा०पु०॥पृ०॥, पृ० 490-493

नदियों के प्रति पवित्रता तथा महनीयता के भाव -

नदियाँ भारत वर्ष के लिए जल प्रवाहित करने वाली केवल एक स्रोत के रूप में कभी भी नहीं देखीं गई। इनको तो ऐसा आदर और मान दिया गया है जो सम्भवत: ही विश्व के किसी भू भाग में ऐसा दिया गया हो और यह मान उस रूप में रहा है जिस रूप में माता अपने पद के गौरव से मानवती होती है। इसीलिए न केवल पुराणों में अपितु वेदों में भी प्रारम्भ से ही इन्हें माता के पद से सम्बोधित किया गया है। ये हमारी मातायें हैं और हमारा पालन - पोषण उसी भाँति करती हैं जैसे कोई माता अपने पुत्रों का पालन-पोषण करती है। इसे ऋग्वैदिक ऋषि ने अंगीकार किया है।[1] यह तो मातृसदृशा नदियों के पालन पोषण के स्वभाव के अनुरूप भाव हुआ, क्योंकि अपने जल से , अपने प्रवाह से छोड़ी गई मिट्टी से तथा व्यापारादि में यातायात की सहायिका होने के कारण ये जन-समाज का पालन-पोषण तो करती ही हैं। नदियों को मान देने की दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने उसे भगिनी सदृशा भी कहा है।[2]

पुराणकारों ने नदियों के प्रति परम्परा से प्राप्त सरिताओं के प्रति व्यक्त किये जाने वाले इन महनीय भावों को न केवल यथावत् स्वीकार किया है ,अपितु इन विचारों में एक प्रकार से अभिवृद्धि की है। पुराणों में भारतभूमि की प्राय: सभी ख्यातिनामा नदियों का उल्लेख है और इनकी उपा-देयता के साथ-साथ धार्मिक उपयोगिता का भी निरूपण किया गया है। मत्स्य-पुराण में नदियों के इसी स्वरूप की व्यवस्था को व्यक्त करते हुए यह कहा है

---

1. वही 1/46/2, 7/36/6
2. वही 3/33/9 , 6/61/9

कि शोण ,महानदी, नर्मदा आदि नदियाँ ऋक्षवान् पर्वत से उद्भूत हुई हैं।
तापी पयोष्णी ,निर्विन्ध्या, शिप्रा आदि नदियाँ विन्ध्याचल की उपत्य-
काओं से निकली हुई है। गोदावरी, भीमरथी ,कृष्णवेणी आदि नदियाँ सह्य-
पर्वत की शाखाओं से प्रकट हुई हैं । कृतमाला ,ताम्रपर्णी आदि नदियाँ मलया-
चल से निकली हैं। इन सभी का जल बहुत शीतल और पुण्यप्रद होता है तथा
ये सभी विश्व के लिए मातृ सदृशा हैं। [1]

---

1. शोणो महानदी चैव नर्मदा सुरसा क्रिया ।
मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटा तथैव च ।।
तमसा पिप्पली श्येनी करतोया पिशाचिका ।
x x x x
तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा वाह्या कावेर्यथापि च ।
दक्षिणापथ नद्यस्ताः सह्यपादाद् विनिःसृता।।
कृतमाला ताम्रपर्णी पुष्पजा चोत्पलावती ।
मलयान्निःसृता नद्यः सर्वा शीतलजाः शुभाः ।।
सर्वाःपुण्यजलाः पुण्याः सर्वाश्चैव समुद्रगाः ।
विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वपापहराः शुभाः ।।

मत्स्यपु0 114 ,पृ0 385-386

गंगा की महत्ता-

पुराण साहित्य में गंगा, यमुना, कावेरी, नर्मदा, वेतवा आदि के विषय में उनकी उत्पत्ति, उनके महत्व और उनके सेवन के पक्ष को भिन्न पुराणों में भिन्न -भिन्न रूप से कहा गया है। जैसे गंगा की उत्पत्ति और उसकी पवित्रता का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि भगवती त्रिपथगा, जो गंगा का पर्याय है और जिसके सम्बंध में यह वर्णित है कि गंगा भू, पाताल और स्वर्ग इन तीनों लोकों के पथों पर जाने के कारण और उन लोकों को पवित्र करने के कारण त्रिपथगा है।[1], जगत् योनि नारायण के पद से उत्पन्न हुई है वह जलधारा सुधायोनि चन्द्रमण्डल में प्रवेश करके वहाँ से सूर्य रश्मियों से युक्त होकर के अत्यन्त पवित्र हो सुमेरु पर्वत पर गिरी। वहाँ से यह चार धाराओं में विभक्त होकर मन्दरादि पर्वतों में समानभाव से प्रवाहित हुई।[2]

इसी तरह से अन्य स्थान पर यह वर्णित किया गया है कि कैलाश पर्वत की उत्तर दिशा में हिरण्यशृङ्ग नामक एक विशालपर्वत है। इसके पद प्रांत में बिन्दुसर नामक एक दिव्य सरोवर है। यहीं पर राजर्षि भागीरथ ने अपने पूर्वजों की अस्थियों को पवित्र करने के विचार से तप किया था, जिसके पश -

---

1· त्रीन पथो भावयन्तीति तस्मात् त्रिपथगा स्मृत:।

वा०रा० 1/44/6

2· धराधारं जगद्योने: पदं नारायणस्य च।

यत: प्रवृत्ता या देवी गंगा त्रिपथगामिनी।।

सा प्रविश्य सुधायोनिं सोमधाराममम्भसाम्।

तत: संवर्ध मारार्करश्मिसंगतिपाविनीम् ।।

परातमेरुपृष्ठे च सा चतुर्धा ततो ययौ ।

मा०पु०[प्र०], पृ० 482

स्वरूप सर्व गंगा देवी [त्रिपथगा] सर्वप्रथम यहीं प्रतिष्ठित हुई थीं और बाद में सोमपर्वत के पद प्रान्त से निकल कर सात भागों में विभक्त हो गई थीं।[1]

गंगा की इस विशिष्ट उत्पत्ति में जहाँ जगत् योनि परमात्मा का नाम आया है, वहीं पर इसके सर्वप्रथम उद्भूति स्थान का नाम वह बिंदु-सर नामक सरोवर कहा गया है, जो कैलाश के हिरण्यश्रृंग नामक पर्वत पर स्थित है। यह सरिता स्वर्गलोक तथा अन्तरिक्ष लोक को पवित्र कर भूतल पर आई और भगवान शंकर ने अपनी योगमाया के बल से इसे यहीं पर रोक लिया बाद में यह सात स्रोतों में प्रवाहित हुई।[2]

गंगा के इस वर्णन से जहाँ एक ओर उसकी दिव्यता और पावन-भाव की अनुभूति होती है वहीं उसकी पवित्रता का भी अनुभव होता है क्योंकि उसने अपनी पवित्रता से स्वर्गलोक और अन्तरिक्ष लोक को पहले ही पवित्र किया है और तब भूतल पर आई है।

1- हिरण्यश्रृंगः सुमहान् दिव्यौषधिमयो गिरिः ।
तस्य पादे महद् दिव्यं सरः काञ्चनवालुकम् ।।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।
गंगार्थे स तु राजर्षिरुवास बहुलाः समाः ।।
दिवं यास्यन्तु मे पूर्वे गंगा तोयाप्लुतास्थिकाः।।
सोमपादात् प्रसूता सा सप्तधा प्रविभज्यते ।। म०पु० [1]], पृ०41/0-41।

2- अन्तरिक्षं दिवं चैव भावयित्वा भुवंगता ।
भवोत्तमांगे पतिता संरुद्धा योगमायया।।
ततोविसर्जयामास सप्तस्त्रोतांसि गंगया । वही, पृ०41।;वा०पु०,पृ० 66

यमुना, सरस्वती तथा दृषद्वती -

प्रयागक्षेत्र के महात्म्यवर्णन के प्रसंग में पुराणों में यमुना की महत्ता का सन्दर्भ आया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जो मनुष्य सत्यवादी, क्रोधरहित, अहिंसापरायण और धर्मानुरागी होकर गंगा-यमुना के संगम में स्नान करता है वह पाप से मुक्त हो जाता है। वहाँ सूर्यकन्या यमुना, जो तीनों लोकों में विख्यात् हैं, नदीरूप में आई हुई है और साक्षात् भगवान शंकर वहाँ निवास करते हैं। इसलिए यह पुण्य प्रयाग मनुष्यों के लिए दुर्लभ है। देव, दानव, गन्धर्व, ऋषि, सिद्ध-चारण इसका स्पर्श करके स्वर्गलोक में विराजते हैं।[1] इसी तरह से यमुना की महामती स्थिति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि जो संगम के जल में प्रवेश करता है, वह उसी तरह से पापमुक्त हो जाता है, जैसे राहुग्रस्त सोम, राहु से विमुक्त हो जाता है।[2]

- -

1. सत्यवादी जितक्रोधो हि अहिंसायां व्यवस्थित: ।
   धर्मानुसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रत: ।।
   गंगा यमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्बिषात् ।।
   x x x x
   तपनस्य सुतादेवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
   समागता महाभागा यमुना तत्र निम्नगा।।
   तत्र संनिहितो नित्यं साक्षाद् देवो महेश्वर:।
   x x x x
   देव दानवगन्धर्वा ऋषय: सिद्धचारणा: ।
   तदुपस्पृश्य राजेन्द्र स्वर्गलोकमुपासते ।। म0पु0।।।,पृ0 357

2. जलप्रवेशं य: कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते ।
   राहुग्रस्तो यथा सोमो विमुक्त: सर्वपातकै:।। कू0पु0,पृ0 73

सरस्वती और दृषद्वती का उल्लेख वामन पुराण में यह कहकर किया गया है कि सरस्वती नदी ने अपने प्रवाह से कुरुक्षेत्र में प्रवेश किया और इस क्षेत्र में सहस्त्रों की संख्या में तीर्थ क्षेत्र अवस्थित हुए । उनमें भी जो क्षेत्र सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य में है,वह देवनिर्मित क्षेत्र ब्रह्मावर्त कहा गया है ,जो व्यक्ति धीरात्मा होकर सरस्वती के तट पर निवास करता है वह ब्रह्ममय होकर ज्ञानरूप हो जाता है। जो श्रद्धा से युक्त होकर के इस नदी के तट पर जाता है वह अपने मन से अनुचिन्तित सभी कामनाओं की पूर्ति कर लेता है।[1] इस प्रकार से इन दोनों नदियों का भी महत्व उसी रूप में निरूपित है , जैसा महत्व गंगा और यमुना का कहा गया है। सरस्वती नदी के तट पर निवास करने वालों का फल तो इतना श्रेष्ठ कहा गया है कि इससे धीर पुरुष ज्ञानी बन जाता है।

नर्मदा तथा कावेरी -

महर्षि मार्कण्डेय ने कावेरी और नर्मदा के महत्व को अतिशय रूप में रेखांकित किया है। मत्स्यपुराण में ही उन्होंनें कहा है कि कावेरी और नर्मदा ये दोनों अतिशय पुण्यशालिनी महानदियां हैं। उनमें स्नान करके जो वृषभध्वज की पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है,इतना ही नहीं ,

---

1- तत्र सा स्त्रुकं प्राप्य पुण्यतोया सरस्वती ।
कुरुक्षेत्रं समाप्लाव्य प्रयाता पश्चिमां दिशम् ।।
सरस्वती दृषद्वत्योर्द्वयोर्नद्योर्यदन्तरम् ।
x x x x
गत्वा तु श्रद्धया युक्त: स्नात्वा स्थाणु महाह्रदे ।
मनसा चिन्तितं कामं लभन्ते नात्र संशय: ।। वाम0 पु0, पृ0 60-61

जो फल गंगा और यमुना में स्नान करने से मिलता है वही फल मनुष्य को नर्मदा और कावेरी के संगम में स्नान करने पर प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यही भाव इस रूप में वर्णित है जिसमें यह कहा गया है कि सरस्वती का जल तीन दिनों तक सेवन करने से, यमुना का जल सात दिनों में पवित्र कर देता है किन्तु नर्मदा का जल दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देता है। कलिंग देश की पश्चिमी सीमा पर स्थित अमरकन्टक पर्वत से त्रिलोकी में विख्यात, रमणीय, मनोरम तथा पुण्यदायिनी नर्मदा प्रवाहित होती है।[2]

इसी प्रकार से, जैसा कि पूर्व में संकेतित किया जा चुका है, उसी अनुरूप यह ज्ञातव्य है कि इन नदियों के अतिरिक्त अन्य भारतीय नदियों का भी उल्लेख और वर्णन पुराणकारों ने किया है और अनेक रूपों में उनके महत्व

---

1. कावेरी संगमं तत्र सर्वपाप प्रणाशनम् ।
   ये नरा नाभि जानन्ति वञ्चितास्ते न संशयः ।।
   तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तत्र स्नायीत मानवः।
   कावेरी च महापुण्या नर्मदा च महानदी।। म०पु०॥1॥ ,पृ0776

2. नर्मदा सरितां श्रेष्ठ सर्वपापप्रणाशिनी।
   तारयेत सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च।।
   त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन च यामुनम्।
   सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम् ।
   कलिंगदेशे पश्चार्धे पर्वत मरकण्टके ।
   पुण्या च त्रिषु लोकेषु रमणीया मनोरमा। वही, पृ0 781

का अंकन भी किया है। जैसे वहीं पर यह कहा गया है कि ये नदियाँ अपनी पवित्रता से अपने जल में स्नान करने वालों को पवित्र कर देती हैं, उन्हें, लौकिक और पारलौकिक फल प्रदान करती हैं और मातृ सदृशा हैं[1] और इनके इस प्रकार के विवेचन से यही प्रतीत होता है कि पौराणिक ऋषियों ने भारतीय नदियों के महत्व को समझा है और राष्ट्र के लिए उनकी उपादेयता जानकर उन्हें माता के सदृश कहकर अपने राष्ट्र-अभिनिवेश को प्रकट किया है।

पर्वतों एवं वनों के प्रति महनीयभाव :

भारतीय परम्परा में प्रकृति के समस्त उपादानों के प्रति न केवल आत्मीय भाव रहा है अपितु उनकी मनुष्य जीवन के लिए अनिवार्यता और उनकी महत्वशीलता को भी सदा स्वीकार किया गया है, पुराण साहित्य में भी इसीलिए इस विचारधारा का न केवल पल्लवन और पोषण हुआ है, अपितु प्रकृति के उपादानों के प्रति और अधिक आदरभाव प्रकट किया गया है.

1- अग्निना दह्यते तूलं तृणं शुष्कक्षणाद्यथा।
तथागंगाजलस्पर्शात् पुंसां पापानि दहेत्क्षणात् ।। प०पु०, पृ० 403

x x x x x x x

एतासामपो भारत्य: प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति ।
चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवरोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी
शर्करावर्ता तुंगभद्रा कृष्णा वेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी
तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्ध: शोणश्च नदौ महानदी
------------------------मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्य:।।
भा० पु०, पृ० 290

एवं उनको मनुष्य जीवन के लिए अपरिहार्य बताकर उनकी राष्ट्रीय महत्ता का आकलन भी प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों में पर्वतों का विस्तार से वर्णन है और महत्वशील पर्वतों के स्वरूप का विस्तार से परिचय दिया गया है। द्वीपों के परिचय में जहाँ पर्वतों का उल्लेख हुआ है, वहाँ कहीं पर पर्वत से द्वीप की विशेषता बताई गई है और कहीं पर द्वीप से पर्वत का वैशिष्ट्य अंकित है। पर्वत केवल मिट्टी के एक अंश हैं ऐसा पुराणकार मानते ही नहीं। वे यह संकेत करते हैं कि जैसे हमारे विशिष्ट पूर्वज कुल पूर्वज कहे जाते हैं उसी तरह से कुछ विशेष पर्वत हमारे लिए कुल पर्वत हैं। अथवा पुराणों द्वारा कुछ पर्वतों को कुल पर्वत गिनाने का अभिप्राय यह भी है कि ये पर्वत अन्य पर्वतों के कुल पर्वत हैं। जैसे यह वर्णन आया है कि महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य पारियात्र पर्वत सात संख्या वाले कुल पर्वत हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सहस्त्रों भूधर हैं जो विस्तार ऊँचाई में रम्य हैं।[1] यही नहीं एक अन्य स्थान पर पर्वतों की एक अन्य विशिष्टता का उल्लेख इस रूप में किया गया है कि ये पर्वत मर्यादा बनाने वाले हैं जहाँ यह कहा गया है कि प्लक्षद्वीपेश्वर मेधातिथि के सात पुत्र हुए। उनके नाम थे शान्तहयवर्ष, शिशिर वर्ष, सुखोदय वर्ष,

---

1. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुल पर्वताः
तथान्ये शतसाहस्त्रा भूधरा मध्यवासिनः ।
विस्तारोच्छ्रायिणो रम्या विपुलाः शुभसानवः
कोलाहलश्च वैभ्राजो मन्दरो दुर्धराचल : ।
वा०पु०,पृ० 26; वि०पु०[प्र०] ,पृ० 260

शिव वर्ष ,क्षेमक वर्ष,आनन्दवर्ष आदि सात वर्ष हुए । ये जम्बूद्वीप के भाग थे, जिन्हें वर्ष कहा गया है। इनकी मर्यादा बनाने वाले गोमद,चन्द्र, नारद दुन्दुभि, सोमक ,सुमन तथावैभ्राज नामक पर्वत थे।[1]

जहाँ पर पुराणकारों ने भारतीय भू-भाग के विस्तार का वर्णन किया है वहीं पर प्रमुख और सामान्य रूप से जाने जाने वाले पर्वतों का भी उल्लेख किया है। इनमें हिमालय,मेरु,नील,निषध,श्वेत,हिमकूट और श्रृंगवान का सम्मेलन किया गया है। सुमेरु की ओर की दिशाओं में सभी प्रकार के रत्नों से विभूषित गन्धमादन,मन्दर ,विपुल और सुपार्श्व पर्वतों की स्थिति भी कहीं गई है। गन्धमादन के पश्चिम में अमर गण्डिक नामक पर्वत की स्थिति कही गई है, जिसकी भूमि को बत्तीस हजार योजन तक समतल बताया है । इसी भाँति जम्बूद्वीप के अन्य पर्वतों में सुवीर,मणिशैल, महानीली,विन्दु,मन्दर वेणु,त्रिकूट,रुचक,रत्नवान्, शिशिराक्ष, हंसमान ,सानुमान्, नील, मयूर और जराधि आदि पर्वतों का उल्लेख किया गया है।

---

1. सप्तमेधातिथे:पुत्रा: प्लक्षद्वीपेश्वरास्तथे ।
   ज्येष्ठ: शान्तहयोनाम शिशिरस्तदनन्तर:।।
   सुखोदयस्तथानन्द: शिव: क्षेमक एवं च ।
   ध्रुवश्च सप्तमस्तेषां प्लक्षद्वीपेश्वरा हि ते ।।
   पूर्वशान्तहमं वर्ष शिशिरं च सुखं तथा।
   आनन्दं च शिवं चैव क्षेमकं च ध्रुवमेव च।।
   मर्यादाकारकास्तेषां तथान्यं वर्षपर्वता:।
   गोमेदश्चैव चन्द्रश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा।
   सोमक: सुमनाश्चैव वैभ्राजश्चैव सप्तम:।। वही, 264

इन सभी पर्वतों के विषय में यह कहा गया है कि ये सभी पर्वत वनों और निर्मल जल वाले सरोवरों से परिपूर्ण हैं और इन परम पुण्य स्थलों में पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म लेते हैं।[1] पुराण रचनाकारों ने जिन पर्वतों के केवल नाम मात्र का परिगणन किया है, वे सभी तो इस भूमि के पर्वत हैं ही किन्तु हिमवान् मेरु आदि कुछ ऐसे पर्वत हैं, जिसका वर्णन विस्तार से करने के साथ-साथ उनके विशेष महत्व को भी रेखांकित किया गया है।

हिमवान् तथा सुमेरु -

पुराणकार हिम के निरन्तर बने रहने के कारण इस पर्वत का नाम हिमवान् लिखते हैं । इसके शृंगों पर निरन्तर हिम बना रहता है। इसलिए ही यह हिमाद्रि है।[2] इस हिमालय पर्वत को कैलास इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह शिव-निवास परम पुनीत स्थान है। वहाँ पर नदियों के प्रवाह से उत्पन्न हुआ महान् घर्घर शब्द चारों ओर गूंज रहा था, जिसके कारण कोई दूसरा शब्द सुनाई ही नहीं देता था। वह स्थान अत्यन्त रम्य और शीतल जल की शीतलता से शीतल था। उसका सम्पूर्ण अंग वर्फ से आच्छादित था, पर कहीं-कहीं गेरू जैसा रंग होने से श्वेत चन्दन वाले शरीर

---

1 - वनैरमलपानीयैः सरोभिरुपशोभिताः ।
तासु पुण्यकृतां जन्म मनुष्याणां द्विजोत्तम ।।
मा0पु0[पृ0] ,पृ0 480

2- हिमप्रायश्च हिमवान् । म0 पु0 [ ], पृ0 377

पर पाँचों अंगुलियों की छाप पैली थी[1], उसके शृंगों पर अनेकों मणियाँ थीं और अनेकों वृक्षों तथा लताओं से यह परिवृत था। मयूरादि पक्षियों का कलरव भी सुखमय था।[4]

हिमवान् की ही भाँति मेरु अथवा सुमेरु पर्वत का भी वर्णन पुराणकार विस्तार से करते हैं। सुमेरु पर्वत भी जम्बूद्वीप का एक विशाल पर्वत है, जो सुवर्णमय कहा गया है। इसके चारों भाग चार रंगों के हैं , जो

---

1. आलोकयन नदीं पुण्यां तत्समीरहृतश्रमः ।
स गच्छन्नेव ददृशे हिमवन्तं महागिरिम्।।
× × ×× × ×× × ×
नदी प्रवाह संजातमहाशब्दैः समन्ततः ।
असंश्रुतान्यशब्दं तंशीततोयं मनोरमम् ।
देवदारुवने नीलैः स्कन्धाधोवसनं शुभम् ।
मेघोत्तरीयकं शैलं ददृशे स नराधिपः ।। म0पु0 ।। § ,पृ0 394

4. यदो त्वाधिष्ण्याम्भितं पुरोधः,
कैलासगिरिप्रवरेप्रियं प्रभोः।।
जम्भौषधिसमोमन्त्रयोगसिद्धैर्निरन्तरैः।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा।।
नानामणिमयैः शृङ्गैः नानाधातु विचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानापुष्पगणावृतैः।। भा0पु0,पृ0193; वा0पु0,पृ058

जो गर्भाशय के समान कहे जाते हैं। यह चारों दिशाओं में चौबीस हजार योजन तक फैला हुआ है। इसका ऊपरी भाग गोलाकार और निचला भाग चौकोर है। इसके पार्श्व भाग नाना प्रकार की रंग-बिरंगी भूमि से युक्त है। यह अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा के नाभि बंधन से उद्भूत हुआ है। इसका पूर्वी भाग श्वेत रंग का है। जिसमें इसका ब्राह्मणत्व प्रकट होता है। इसका दक्षिणी भाग पीले रंग का है जिससे इसका वैश्यत्व प्रतीत होता है। इसका पश्चिमी भाग भौंरे के पंख जैसा काला है। इसी से इसकी शूद्रता प्रकट होती है इसका उत्तरी भाग स्वभाव से ही लाल रंग का है। इसी से इसका क्षत्रियत्व सूचित होता है।[1]

मेरु पर्वत को पुराणकार ने राजा की भाँति शोभित होने वाला पर्वत कहा है। यह वर्णन किया है कि यह पर्वत चारों ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है और इस भाँति प्रतिष्ठित है जैसे राजा प्रतिष्ठित होता है। इस पर्वत की कान्ति इस प्रकार की है जैसे तरुण सूर्य की मध्यकालीन कान्ति होवे। यह उस प्रकार से चमकता है जैसे धूमरहितअग्नि का पिण्ड चमकता है। पृथिवी के ऊपर इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। यह सोलह हजार योजन तक

1. चातुर्वर्ण्यस्तु सौवर्णो मेरुश्चोल्वमय: स्मृत:।
चतुर्विंशतिसहस्त्राणि विस्तीर्णश्च चतुर्दिशम्।।
वृत्ताकृतिप्रमाणश्च चतुरस्त्र: समाहित: ।
नानावर्ण: स्म: पार्श्वे प्रजापतिगुणान्वित:।।
नाभीबन्धनसम्भूतो ब्रह्मणा व्यक्तजन्मन:।
पूर्वत:श्वेतवर्णस्तु ब्राह्मण्यं तस्य तेन वै।।
पीतश्च दक्षिणेनासौ तेन वैश्यत्वमिष्यते।
भृङ्गिपत्रनिभश्चैव पश्चिमेन समन्वित:।
तेनास्य शूद्रता सिद्धामेरोर्नामार्थकर्मत:।।
पार्श्वमुत्तरतस्तस्य रक्तवर्ण स्वभावत: ।
तेनास्य क्षत्रभाव: स्यादिति वर्णा: प्रकीर्तिता:।। म0पु0 113, पृ0378

पृथिवी के नीचे धंसा हुआ है। चारो ओर से इसका फैलाव विस्तार से दुगना है। यह दिव्य पर्वत मेरू औषधियों से परिपूर्ण है तथा स्वर्णमय भुवनों से घिरा हुआ है। इस पर्वतराज पर देव ,गन्धर्व, असुर तथा राक्षस सर्वत्र निवास करते है।[1] इस तरह से इस पर्वत की विशेषताओं का जिस रूप में उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार इसे एक प्रकार से मानवीय रूप से प्रतिष्ठित करके देखा जा सकता है। जैसे यह अपने विविध वर्णों चतुर्वर्ण की स्थिति का प्रतीक कहा जाता है। उसी प्रकार से अपनी ऊँचाई और चमक से यह राजा की भाँति सुशोभित भी दिखता है।

महामेरू, नील तथा निषधपर्वत:-

इलावृत नामक वर्ष के मध्य में विस्तार से फैले हुए महामेरू पर्वत का वर्णन भी इसी पुराण में किया गया है। यह पर्वत चौबीस हजार योजन की समतल भूमि में विस्तृत है इसके मध्य भाग में महामेरू नामक पर्वत है, यह धूमरहित अग्नि के सदृश चमकता है। मेरू पर्वत का आधादक्षिण भाग दक्षिण मेरू तथा आधा उत्तरी भाग उत्तर मेरू के नाम से प्रसिद्ध है।[2]जम्बूद्वीप क्षेत्र

- -

1. मेरूस्तु शुशुभे दिव्यो राजवत् स तु वेष्टित: ।
आदित्यतरूणाभासो विधूम इव पावक: ।।
विस्तराद् द्विगुणश्चास्य परीणाह: समन्तत:।
स पर्वतो महादिव्यो दिव्यौषधि समन्वित:।।
भुवनैरावृत: सर्वैर्जातरूपपरिष्कृतै: ।
तत्रदेवगणाश्चैव गन्धर्वासुरराक्षसा:।। वही, पृ0 380

2. मध्येत्विलावृतं नाम महामेरो: समंतत: ।
चतुर्विंशति सहस्राणि विस्तीर्णो योजनै: सम:।।
मध्ये तस्य महामेरूर्विधूम इव पावक:।
वेदर्धं दक्षिणं मेरोरूत्तरार्धं तथोत्तरम् ।। म0पु0।।।,पृ0378; कू0पु0,पृ079

में ही नील तथा निषध पर्वतों की भी चर्चा की गई है, जिन्हें श्वेत पर्वत, हेमकूट, हिमवान् और शृंगवान् से अपेक्षाकृत छोटा बताया गया है। हेमकूट पर्वत श्वेत पर्वत के बारहवें भाग से न्यून है और हिमवान् उसके बीसवें अंश से कम हैं। हेमकूट अट्ठासी हजार योजन के परिणाम वाला है और हिमवान् पूर्व से पश्चिम तक अस्सी हजार योजन तक फैला है।[1] ये सभी भारतीय भू-भाग के लिए महत्वपूर्ण पर्वत हैं और इन पर सभी प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं।

वनों की महत्ता:-

ग्रामों, जनपदों, नदियों और पर्वतों की ही तरह पुराणकार वनों की महत्ता का निरूपण भी यथावसर करते हैं तथा उनकी रम्यता की स्थिति का चित्रण करने के साथ-साथ उनके वृक्षों, वनस्पतियों, फूलों, फलों, पक्षियों का भी मनोयोग से वर्णन करते हैं। वनों की स्थिति पर्वतों के मध्य में है और वे वहाँ पर सुशोभित रीति से लगे हुए हैं।[2] वहाँ के वृक्ष मधु सदृश मीठे फल

- -

1. जम्बूद्वीपस्य विस्तारस्तेषामायाम उच्यते।
नीलश्च निषधश्चैव तेषां हीनाश्च ये परे।।
श्वेतश्च हेमकूटश्च हिमवान् शृंगवांश्च यः।
अष्टाशीति सहस्राणि हेमकूटो महागिरिः।।
वही, पृ0 378-379; कू0 पु0, पृ0 80

2. एतेषां शैलमुख्यानामन्तरेषु यथाक्रमम्।
सन्ति चैवान्तरद्रोण्यः सरांसि च वनानि च।। कू0पु0, पृ080
वाम0पु0, पृ0 6।

वाले होते हैं और उन्हीं से वस्त्र,पत्र तथा आभूषणों की उत्पत्ति होती है।[1] उनमें से कुछ वृक्ष तो अत्यन्त सुकर और सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं तथा दूसरे कुछ ऐसे मनोहर वृक्ष हैं, जिनसे दूध निकलता है। वे सदा दूध और अमृत तुल्य सुस्वाद,छहों रसों की रक्षा करते हैं। पुराण शिल्पियों ने जब इन वनों के वृक्षों की गणना की है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे सम्पूर्ण प्रकार के वृक्षों के ज्ञाता होवें और ऐसा कोई वृक्ष ही न हो जिसका नाम , जिसका सौन्दर्य और जिसकी विशेष शोभा तथा विशिष्टता वे न जानते होवें। जब मत्स्य पुराण में ऐसे वृक्षों की गणना की गई है तो न केवल उनको गिन दिया गया है, अपितु उनका रंग और स्वभाव भी परिगणित कर दिया गया है।कौन लता किस रंग का फूल फूलती है। किस प्रकार के वृक्ष का आश्रय लेकर वह कैसे अपनी शोभा बिखेरती है। कौन पुष्प सूर्य जैसे पटक प्रकाश वाला था

- -

1- तत्रवृक्षा मधुफला दिव्यामृतफलाधगाः।
वस्त्राणि ते प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च।। म0पु0।।।, पृ0 382

तुलनीय - क्षौमं केनचिदिन्दु पाण्डुतरुणा माँगल्यमाविष्कृतम् ।.........।
दत्तान्याभरणानि तत् किसलयोद्भेद प्रतिद्वन्द्विभिः।।
अ0शा0, पृ0 22।

और कौन चन्द्रमा जैसा उज्ज्वल था- इसका मनोहारी चित्र पुराणकार ने खींचा है।[1]

इसी तरह से जब पर्वत की उपत्यकाओं में स्थित वन का अन्य स्थान पर पुराणकार वर्णन करता है तो वह वर्णन है कि वह वन पद् सौगंधि आदि विकसित होकर उसकी शोभा को और अधिक आकर्षक बना रहे हैं। पक्षियों का कलख उस वन को मण्डित किये हुए हैं और अनेकानेक पशु अपनी उपस्थिति से उसकी चारुता की अभिवृद्धि कर रहे हैं। हंस ,कारण्डव और

- -

1. अपरेक्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र मनोरमाः ।
ये रक्षन्ति सदा क्षीरं षडरसं चामृतोपमम् ।। म0पु0,पृ0382
× × × ×
शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैः तथामलैः।
न्यग्रोधैश्च तथाश्वत्थैः शिरीषैः शिंशिपाद्रुमैः।।
खर्जूरैर्नारिकेलैश्च प्रियालाम्रातकेंगुदैः।
तन्तुमालैर्धवैर्भव्यैः काश्मीरीपर्णिभिस्तथा।।
× × × ×
काकोलीक्षीरकाकोली छद्मया चातिच्छत्रया।
कासमर्दीसहासद्भिः स्कन्दसकाण्ड कैः।।
× × × ×
तत्र वेणु लताभिश्च तथा कीचकवेणुभिः।
काशैः शशांककाशैश्च शरगुल्मैस्तथैव च।।
× × × ×
नीलोत्पलैः सकल्हारैर्गुंजातककशेरुकैः।
श्रृंगारकमृणालैश्च करटै रक्तोत्पलैः ।। वही, पृ0396-399

भौरों का गुंजन मदमत्तता का वातावरण तैयार कर रहे हैं। ¹

विश्लेषण :-
========= इस प्रकार से ये वन न केवल पृथिवी की शोभा की अभिवृद्धि करते हैं अपितु इनकी शाखायें ,इनकी पत्तियां,इनके वृक्षों के पुष्प ,पत्र और छाल आदि मनुष्य के उपयोग में आती है। इनका रस और वृक्षों द्वारा वस्त्रादि आभूषणों का दान मनुष्य के लिए अभ्यविधि से आनन्द और आह्लाद का प्रदायक है। यदि इनकी औषधियों से व्यक्ति के जीवन की रक्षा होती है तो इनके द्वारा प्रदत्त वस्त्राभूषणों से, चाहे वे भले ही पत्र-पुष्पादि रूप में हो, व्यक्ति सज्जित होकर आनन्द और उल्लास का अनुभव करता है । इसलिए यह कहना संगत होगा कि वृक्षों और वनस्पतियों वाले वन इस राष्ट्र के महत्व के उपादान हैं और उनकी राष्ट्रिय उपादेयता है।

तीर्थों के प्रति समादर -

पुराणों में भारत भूमि के तीर्थों का न केवल उल्लेख मात्र किया गया है अपितु क्रम से उनकी यात्रा करने का मार्ग भी बताया गया है। जैसे मत्स्य पुराण में नर्मदा के तटवर्ती तीर्थों में जाने के लिए और उनके दर्शन से पुण्य लाभ करने के लिए प्रेरित किया गया है । ऋषि मार्कण्डेय ने कहा है कि नर्मदा के उत्तर तट पर एक योजन विस्तृत यन्त्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ तीर्थ है । वह सभी पापों का नाश करने वाला है,वहाँ स्नानकर मानव

- -

1. पद्मोत्पलवनैः पुष्पैः सौगन्धिकवनैस्तथा।
तथा कुमुदखण्डैश्च विकचैरुपशोभितै।।
पिकांसंघसंघुष्टं नाना सत्व निषेवितम्।
हंसकारण्डवा कीर्णं मत्तषट्पदसेवितम्।।
नानासत्वगणाकीर्णं विहगैरुपशोभितम्।। वा०पु०,पृ० 59

देवताओं के साथआनन्द मनाता है और इच्छानुसार रूप धारण कर पाँच हजार वर्षों तक वहाँ क्रीड़ा करता है। वहाँ पर आगे गर्जन नामक तीर्थ स्थान भी है। जिसके ऊपर मेघ गर्जन करते रहते हैं। इस तीर्थ के प्रभाव से ही मेघनाद को इन्द्रजित नाम प्राप्त हुआ था। इसी क्रम में वहाँ पर धारातीर्थ ,ब्रह्मगा ,मेघनाथ अंगारेश्वर ,कपिला,कुण्डलेश्वर, पिंगलेश,पिंगलेश्वर आदि का नाम दिया गया है और उनके दर्शन से किस-किस फल की प्राप्ति होती है। इसका भी वर्णन किया गया है।[1] इसी तरह से एक अन्य स्थान पर सरस्वती तट के तीर्थों का वर्णन भी प्राप्त होता है और वहाँ पर कुरुक्षेत्र आदि एक हजार तीर्थ होने का संकेत किया गया है। इसी के साथ यह कहा गया है कि तीर्थों का स्नान,दान,दर्शन पापों का नाशक होता है और इन क्षेत्रों में पुण्य-स्नान से दुष्कृत कर्मों से भी मुक्ति मिल जाती है।[2]

भारतीय तीर्थों का महत्व इसी दृष्टि से है क्योंकि जहाँ ये एक और हमारी धरती के विस्तार को देखने के लिए जनता को प्रेरित करते हैं और हमारे विस्तृत भूभाग को स्थापित करते हैं वहीं इनके माहात्म्य के सम्बंध में यह कहा गया है कि इनके दर्शन ,नामस्मरण और इनके सरों में स्नान करने से न केवल परलोक सुधरता है,अपितु मनुष्य का इहलोक भी श्रेष्ठ बन जाता है।अविमुक्त क्षेत्र की

- -

1· म०पु० [II] ,पृ० 797-798 ; कू०पु० ,पृ० 70

2· तत्र तीर्थ सहस्राणि ऋषिभिः सेवितानि च ।

× × × ×

तीर्थानां स्मरणं पुण्यं दर्शनं पापनाशनम् ।
स्नानं पुण्यकरं प्रोक्तं अपि दुष्कृत कर्मणः।।
ये स्मरिष्यन्ति तीर्थानादिवता: प्रीणयन्ति च।
स्नान्ति च श्रद्धानाश्च ते यान्ति परमां गतिम् ।। वाम·पु·,पृ060

महत्ता का और उसके दर्शन से प्राप्त होने वाले फल का आख्यान इसी रूप में किया गया है। अन्य अनेक स्थानों पर यही कहा गया है कि जो व्यक्ति इन तीर्थों का स्मरण करता है। इन तक जाता है और इनके दर्शन करता है वह सभी प्रकार के पापों से विमुक्त हो जाता है और संसार में धर्म तथा अर्थ की प्राप्ति करता है। इस भाँति वह अपने उभय लोक को सम्हाल लेता है।[1]

यहाँ पर इस एक तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसमें यह कहा गया है कि इन तीर्थों के सेवन करने के साथ-साथ व्यक्ति को काम, क्रोध, राग तथा द्वेषादि से दूर रहना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि तीर्थ दर्शन का अपना महत्व होते हुए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने अन्तः:करण से शुद्ध चित्त हो और इस प्रकार उसका अपना जीवन स्वच्छ तथा पवित्र हो। तभी उसे तीर्थ दर्शन का फल सहजता और सम्पूर्णता से मिलता है। इसी दृष्टि से प्रयाग महात्म्य के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जो मनुष्य सत्यवादी, क्रोधरहित, हिंसारहित, धर्मानुरागी, तत्वज्ञ, गो ब्राह्मण -हित में तत्पर हो गंगा और यमुना में स्नान करता है। वह पापों से मुक्त हो जाता है,

---

1. यः पठेदविमुक्तस्य माहात्म्यं शृणुयादथ ।
   श्रावयेद्वा द्विजान् शान्तान् स याति परमां गतिम् ।। कू०पु०, पृ०7।

×　　×　　×

उत्तरेण प्रतिष्ठानाद् भागीरथ्यास्तु पूर्वतः।
हंसप्रपतनं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।।
अश्वमेधफलं तस्मिन् स्नानमात्रेण भारत ।
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च तावत् स्वर्गे महीयते ।।
म०पु०॥।॥ ,पृ० 362

इसलिए समस्त देवताओं द्वारा सुरक्षित प्रयाग क्षेत्र में एक मास तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करना चाहिए।[1]

प्रयाग क्षेत्र :- यद्यपि पुराणों में अनेकानेक तीर्थों का वर्णन किया गया है और उनके महत्व प्रतिपादन के साथ-साथ उनके दर्शन और सरिताओं में स्नान के फल को कहा गया है तथापि कुछ तीर्थ क्षेत्र ऐसे हैं जो भारतीय परम्परा में अत्यधिक आदर प्राप्त हैं एवं पुराणों में भी जिनके विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है । प्रयाग संगम क्षेत्र है और इसे एक प्रकार से तीर्थपति की मान्यता प्राप्त है। इस तीर्थपति का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि साठ हजार धनुर्धर वीर गंगा की रक्षा करते हैं और सात घोड़ों से जुते हुए रथ पर चलने वाले सूर्य सदा यमुना की देखभाल करते हैं । इन्द्र विशेष रूप से प्रयाग की रक्षा में दत्त चित्त रहते हैं। श्री हरि देवताओं को साथ लेकर प्रयाग मण्डल की रक्षा करते हैं। महेश्वर त्रिशूल लेकर वट वृक्ष की रक्षा करते हैं। इसलिए इस क्षेत्र में अधर्म से घिरा

---

1. सत्यवादी जितक्रोधो ह्यहिंसायां व्यवस्थितः ।
   धर्मानुसारी तत्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रताः ।।
   गंगायमुनयोर्मध्ये स्नातोमुच्येत किल्बिषात् ।
   मनसा चिन्तयन् कामानवाप्नोति सुपुष्कलान् ।। म०पु० ।।8 ,पृ० 357
   तत्रैव च यतंधीरः हरस्तत्य स्तरे स्थितः ।
   तस्य ज्ञानं ब्रह्ममयं भविष्यति न संशयः ।।
   वसन्त्यनियतात्मानोयेऽपि दुष्कृतकारिणः ।
   ते विमुक्ताश्च कलुषैरनेक जन्म संभवैः ।। वा०पु० ।।७०।। ,पृ० 335

हुआ मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता है। यदि किसी का थोड़ा सा भी पाप होगा तो वह प्रयाग का स्मरण करने से सभी का सभी नष्ट हो जाता है। इसलिए यह विधान है कि प्रयाग तीर्थ का दर्शन नाम संकीर्तन, मृत्तिका का स्पर्श मनुष्य को पाप से मुक्त करता है।[1]

काशीक्षेत्र :- भगवान शंकर की निवास स्थली काशी की महिमा भी अनंत है और इसका वर्णन भी पुराण अनन्तरूप से करते हैं। वे वर्णित करते हैं कि यह काशी धन्य है जहाँ निरन्तर भूतभावन शंकर निवास करते हैं। यह तीनों लोक की सारतत्त्व है, उसका सेवन करने से मनुष्यों को उत्तम गति प्राप्त होती है। गुह्यतम प्रदेश सभी प्राणियों को सुख देने वाला है और विष्णु तथा शिवभक्तों को मोक्ष देने वाला है। जो यहाँ निवास करते हैं, उनके कर्म समूह पूर्णरूप से शुद्ध हो जाते हैं। इस महान क्षेत्र को भगवान विष्णु ने और भगवान्

1- दृष्टिर्धनुः सहस्राणि यानि रक्षन्ति जाह्नवीम्।
यमुनां रक्षति सदा सविता सप्तवाहनः।।
प्रयागं तु विशेषेण सदा रक्षति वासवः।
मण्डलं रक्षति हरिर्दैवतैः सह संगतः।।
तं वटं रक्षति सदा शूलपाणिर्महेश्वरः।
स्थानं रक्षन्ति वै देवाः सर्वपापहरं शुभम्।।

× × ×

दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि।
मृत्तिकालम्भनाद् वापि नरः पापात् प्रमुच्यते ।। म०पु०1।। ,पृ०356

शंकर ने कभी नहीं त्यागा है और न इसका त्याग करेंगेइसीलिए इसका नाम भी अविमुक्त क्षेत्र कहा जाता है।[1] काशीक्षेत्र के और अधिक महत्व का वर्णन करते हुए यह वर्णन किया गया है कि महादेव का यह अतिश्रायगुह्य स्थान श्रेष्ठ तीर्थ तथा तपोवन स्वरूप है। जो लोग इस उत्तम क्षेत्र में जाते हैं। वे पुनः संसार में जन्म नहीं ग्रहण करते। सत्पुरुषों द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति के इच्छुक तथा ज्ञान में निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों की जो गति कही गई है, वह गति इस क्षेत्र में प्राण त्याग करने वालों की होती है। अविमुक्त क्षेत्र में स्थित वायु द्वारा उड़ाई गई पवित्रधूल के स्पर्श से अतिशय दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति को भी परम गति प्राप्त होती है।[2]

---

1. ना0पु0[द्वि0], पृ0503
2. तद्गुह्यं देवदेवस्य तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।
   परं स्थानं तु ये सन्ति सम्भ्रमन्ति न पुनः ते।।
   ज्ञाने पिहित निष्ठानां परमानन्दमिच्छताम्।
   या गतिर्विहिता सद्भिः सा विमुक्तये मृतस्य तु।।
   भवस्य प्रीतिरतुलाह्यविमुक्ताये ह्यनुत्तमा।
   असंख्येयं फलं तत्र ह्यक्षया च गतिर्भवेत् ।।
   यत् किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना।
   अविमुक्ते प्रविष्टस्य तत्सर्वं भस्मसाद् भवेत।।
   अविमुक्ताग्निना दग्धा अग्नौ तूलभिवाहितम्।
   न सा गतिः कुरुक्षेत्रे गंगाद्वारे च पुष्करे। म0पु0[।।], पृ0 769-770

पुष्कर क्षेत्र - इसी तरह से पुष्कर क्षेत्र का संकेत विशेष रूप में और महत्वपूर्ण स्थल के रूप किया गया है। इस क्षेत्र का महत्व तो इसलिए भी अधिकरूप में ज्ञात होता है क्योंकि यहाँ श्री राम गये थे और यहाँ पर जाने तथा यहाँ की सरिता में स्नान करने से कोई कभी भी अपने बन्धुओं से वियोग नहीं प्राप्त करता है। इसके महत्व का अंकन करते हुए कहा गया है कि यह क्षेत्री अत्रि के पिता के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। इस क्षेत्र में मर्यादा और यज्ञ पर्वत दो पर्वत स्थित हैं। इनके मध्य में ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ तीन कुण्ड अवस्थित हैं। यह सभी तीर्थों में श्रेष्ठतम् तीर्थ है। और सम्पूर्ण क्षेत्रों में उत्तम है।[1]

विश्लेषण :- इस प्रकार से पुराण जिन तीर्थों का वर्णन करते हैं और जिनके महत्व का आख्यान करते हैं उनकी महत्ता इस रूप में है कि व्यक्ति वहाँ जाकर जहाँ अपनी मानसिक और शारीरिक पवित्रता प्राप्त करता है, वहीं उसे इस प्रकार के तीर्थ स्थान को देखकर उनके प्रति राग और गौरव होता है। यह इस देश का और इस राष्ट्र का वैशिष्ट्य है कि यहाँ इस प्रकार के महत्व के क्षेत्र हैं जो हमारे मन में अपने राष्ट्र के प्रति रागात्मक और श्रद्धा का भाव जगाते हैं।

1- मम पित्रा कृतं तीर्थं पुष्करं नाम विश्रुतम् ।
पर्वतौ च द्वौ विख्यातौ मर्यादा यज्ञपर्वतौ ।।
तीर्थानां प्रवरं क्षेत्रं क्षेत्राणानामपि चोत्तमम्।
पद्म० [पु०], पृ०249-250

राज्य तथा राजा:-

पुराणों में राज्य एवं राजा के सम्बंध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है। राज्य की मूल अवधारणा तो यही है कि जिस किसी भूभाग पर कोई राजा राज्य करे, वह राज्य है।[1] यही कारण है कि राजा की अवधारणा पुराणों में वही है जो वेदकाल से परम्परागत रूप से चली आ रही है। इसीलिए जो भी कोई राजा होता है वह अपने पुत्रों को अपने उत्तराधिकार के रूप में राज्य दे दिया करता था। इसी परम्परा से राजा अपने उत्तराधिकार के क्रम से इस भूभाग पर राज्य करते थे, किन्तु एक बात अवश्य ही विचारणीय है कि वही राजा और वही राज्य प्रतिष्ठित हो पाता है जिसके राज्य में धर्मानुसार शासन होता था और जो निरन्तर प्रजा की हित दृष्टि से शासन में निरत रहता था। यदि कोई राजा ऐसा करने में विपन्न रहता था तो ऋषि महर्षि जो एक प्रकार से प्रजा के महत्वपूर्ण अंग थे, उसका प्रतिरोध करते थे और किसी ऐसे राज्य को राजा की प्रतिष्ठा करते थे जो प्रजा की सुख-समृद्धि के अपना सम्पूर्ण पराक्रम प्रदर्शित करता था। उदाहरण के लिए अंग और सुनीथा के गर्भ से एक पुत्र हुआ था जिसका नाम वेन था। वह चक्रवर्ती सम्राट् था और अधर्माचरण करके निरन्तर प्रजा पर अत्याचार करता था ऐसा देखकर ऋषियों ने प्रजा रक्षण के निमित्त उसका वध कर दिया और उसके मन्थन से पृथु उत्पन्न हुआ। यह बड़ा तेजस्वी और ईश्वराराधक था जिसने तपस्या की और चक्रवर्तित्व सम्राट का पद प्राप्त किया तत्पश्चात् उसने पृथिवी को अपने पराक्रम से इसके लिए उद्यत किया कि वह प्रजा के लिए सभी वस्तुयें उत्पन्न करें। पृथिवी ने जिसका नाम राजा पृथु के कारण ही पृथिवी हुआ, सभी वस्तुयें उत्पन्न कीं। इस प्रकार से राजा ने जब पृथिवी को बाधित कर दिया तो

---

1. बहुभिर्धरणी भुक्ता भूपालैः श्रूयते पुरा।
मत्स्यपु० 11, पृ० 31; वामनपु० पू० 44।

पृथिवी ने स्वयं गाय का रूप धारण करके अपना दोहन कराया । राजा ने गोरूप पृथिवी दोहन करके अन्न आदि की प्राप्ति की और वही अन्न आदि पृथिवी की प्रजा के पालन पोषण के लिये हुआ ।[1]

- -

1. वंशे स्वायम्भुवस्यासीद् अंगो नाम प्रजापतिः ।
   मृत्योस्तु दुहिता तेन परिणीता सु दुर्मुखा ।।
   सुनीथा नाम तस्यास्तु वेनो नाम सुतः पुरा ।
   अधर्मनिरतश्चासीद् बलवान् वसुधाधिपः ।।
   अनुनीतोऽपि न ददावनुज्ञां स यदा ततः ।
   शापेन मारयित्वैनमराजकभयार्दिताः ।।

   × × × ×

   पृथोरेवाभवद् यत्नात् ततः पृथुरजायत् ।
   स विप्रैरभिषिक्तोऽपि तपः कृत्वा सुदारुणम् ।।

   × × × ×

   पृथुरप्यवदद् वाक्यं ईप्सितं देहि सुव्रते ।
   सर्वस्य जगतः शीघ्रं स्थावरस्य चरस्य च ।।
   तथैव साब्रवीद् भूमिर्दुदोह स नराधिपः ।
   स्वके पाणौ पृथुर्वत्सं कृत्वा स्वायम्भुवं मनुम्
   तदन्नमभवच्छुद्धं प्रजा जीवन्ति येन वै ।। वही, पृ० 3।

पुराणों में स्थान-स्थान पर अभिषेक मन्त्रों में राज्य चेतना की कामना की गई है । इसी क्रम में यह भी लिखा गया है कि राजा अपना जीवन किस प्रकार से व्यतीत करे और उसके संतुलित जीवन से कैसे राज्य का विधिवत् संचालन हो सके । राजा यदि अपने जीवन में संतुलित और संयमित है तो अवश्य ही वह अपने राज्य को संतुलित विकास के पथ पर ले जा सकेगा ।

राजा के आदर्श कार्य के सम्बंध में तो पुराणकार एक आदर्श संहिता का ही निर्माण करते हुये दिखाई देते हैं । राजा यदि अपने व्यवहार से और अपनी प्रजा रक्षण विधी से प्रजा को सुखी करता है अथवा धर्म की रीति से पृथिवी का पालन करता है तो उसे बहुत अधिक आदर प्राप्त होता है । यहां तक कि ऐसे राजा को प्रजापति की संज्ञा से विभूषित किया जाता था । राजा बाहु ने अपने शासनकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को अपने-अपने कार्यों में संस्थापित किया था । उनके शासन के प्रभाव से ही सम्पूर्ण प्रजा व्यवस्थित थी । इसलिये बाहु को प्रजापति कहा गया है । उसने अपने पराक्रम से ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में गो, भूमि, सुवर्ण और उत्तम वस्त्र देकर अर्पित किया था । नीति के अनुरूप उसने समस्त लुटेरों को समुचित दण्ड देकर अपनी प्रजा का पालन किया था ।[1]

मत्स्य पुराण में ही ययाति वंश में उत्पन्न राजा अर्जुन के श्रेष्ठ राज्य पालन के क्रम का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि उसने सातों द्वीपों में दस सहस्त्र यज्ञों का अनुष्ठान किया था । उसने उन यज्ञों में प्रचुरता से दक्षिणा भी बांटी थी । उसके स्तम्भ स्वर्ण निर्मित थे, जिनकी वेदिकायें भी

1· ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चान्ये च जन्तवः ।
स्थापिताः स्वस्वधर्मेषु तेन बाहुर्विशांपतिः ।।
× × × ×
अतर्पयद् भूमिदेवान् गोभूस्वर्णांशुकादिभिः ।
× × × ×
अशासन्नीति शास्त्रेण यथेष्टं परिपन्थिनः ।। ना·पु·[पू·] पृ० 12

स्वर्ण से बनी हुई थीं । अर्जुन, जिसे योगी के रूप में सम्बोधित किया जाने लगा था रथ पर आरूढ़ होकर हाथ में शंख, चक्र और धनुषधारण करके सातों द्वीपों में भ्रमण करता हुआ चोरों पर कड़ी दृष्टि रखता था । राजा अपने योग बल से पशुओं का पालक था, खेतों का रक्षक था वही समयानुसार मेघ बनकर वृष्टि करता था । प्रत्यन्चा के आघात से कठोर हुई त्वचा अपनी हजारों भुजाओं से वह उसी तरह से शोभित होता था जैसे सूर्य अपनी सहस्त्र किरणों से शोभित होता है ।[1]

राजा कैसे प्रतिष्ठित होता है और उसका राज्य किस प्रकार निर्विघ्न रहकर प्रजा में आदर प्राप्त करता है इसके लिये पुराणकारों ने अनेक विधानों के साथ यह भी निर्देशित किया है कि राजा को अपने दुर्ग अपनी सेना और अपने मंत्रियों आदि की ओर भी पर्याप्त रूप से ध्यान देना चाहिये और यह कुछ उसी प्रकार का निर्देश है जैसा निर्देश कौटिल्य अर्थशास्त्र में चाणक्य ने दिये हैं । पुराणों के अनुरूप यह कार्य है कि राजा पृथिवी को

---

1. दशवर्षसहस्त्राणि राज्ञा द्वीपेषु वै तदा ।
   निरर्गलानि वृत्तानि श्रूयन्ते तस्य धीमतः ।।
   × × ×
   सर्वयज्ञा महाराजस्तस्यासन् भूरिदक्षिणाः ।
   सर्वे काञ्चनयूपास्ते सर्वाः काञ्चनवेदिकाः ।।
   सर्वे देवैः समं प्राप्तैर्विमानस्थैर लंकृताः ।
   गन्धर्वैरप्सरोभिश्च नित्यमेवोपशोभिताः ।।
   × × ×
   योऽसौ बाहुसहस्त्रेण ज्याघातकठिन त्वचा ।
   भाति रश्मि सहस्त्रेण शारदेनैव भास्करः ।। म0पु0 , पृ0 148-149

जीतने की इच्छा रखने से सदा सम्मानित एवं पालित अनुचरों को अपना सहायक बनाना चाहिए। प्राणियों को यथायोग्य कर्मों में नियुक्त करे। राजा को धर्म, अर्थ, काम और नीति के कार्यों में गुप्त पारिश्रमिक देकर अनुचरों की परीक्षा करनी चाहिए। राजा को चाहिए कि वह ऐसे स्थान में निवास करे जहाँ पर प्रचुर मात्रा में घास-फूस और लकड़ी हो, स्थान रमणीय हो, और पड़ोसी राजा विनम्र हो। जहाँ निरन्तर समान रूप से राजा के सुख-दुख के भागी एवं प्रेमीजन निवास करते हों वहाँ उसे निवास करना चाहिए। राजा को धन्व अथवा धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्ष दुर्ग, जलदुर्ग और पर्वत दुर्ग में से किसी एक की रचना करनी चाहिए। इन सभी दुर्गों में पर्वतदुर्ग श्रेष्ठ माना गया है।[1]

इसी प्रकार से राजा के लिए राजधर्म और सामान्यधर्म की चर्चा करके उसके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली साम, दाम, दण्ड तथा भेदनीतियों का भी वर्णन किया गया है, उसे चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर वश रखे। अर्थ दोषों से बचे। राज्य के छह अंगों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे, क्योंकि प्रजा के अनुराग से राजा को

---

1. राज्ञा सहायाः कर्तव्याः पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
   यथार्ह चाप्यनुरूपो राजा कर्मसु योजयेत् ।।
   धर्मिष्ठान धर्मकार्येषु शूरान् संग्राम कर्मसु ।
   निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्रैव तथा शुचीन् ।। मत्स्य० [II], पृ० 868

   ×× ×× ×× ××

   राजासहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम् ।
   रम्य मानत सामन्तं मध्यमं देशमावसेत ।।

   ×× ×× ×× ××

   धन्वदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ।
   वार्क्ष चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च पार्थिव।
   सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते।। वही, पृ० 873

लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और लक्ष्मीवान् राजा को ही यश मिलता है।[1] इसी प्रकार साम,भेद,दान और दण्ड के साथ उपेक्षा,माया तथा इन्द्रजाल का कथन किया गया है।और इनमें सम्यक् पालन करने का निर्देश भी राजा को है।और इसी से राजा प्रतिष्ठित होता है।[2]

विश्लेषण :-

इस तरह से पुराण रचनाकार राष्ट्र के लिए राज्य और राजा के महत्व को जानकर ऐसे नियमों की संरचना करते हैं जिनसे न केवल राज्य और राजा सुरक्षित तथा प्रतिष्ठित रहे,अपितु राज्य की प्रजा का अनुरंजन होवे तथा वह प्रजा अपने राजा और राज्य के प्रति अपनत्व के भाव से अभिभूत रहे। प्रजा,राजा की इसी भावना से ही एक ऐसी भावना विकसित होती है जिससे कोई भी राष्ट्र राष्ट्रिय भाव से युक्त होता है और भारतीय भूमि इस दृष्टि से अनुमेय है।

संस्कृति एवं धर्म :-

सम् उपसर्गपूर्वक "कृ "धातु से निष्पन्न यह "संस्कृति"शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से व्यवहार में चला आ रहा है और प्राचीनकाल से ही लेकर आज तक इसके अनेकानेक अर्थ किये जा रहे हैं तथा इसके अभिप्राय समझे जा रहे हैं। जैसे पी0वी0 काणे महोदय का अभिप्राय है कि संस्कृति शब्द का अर्थ धर्म [वर्तन] है।[3] जबकि

---

1. लोकानुरागप्रभवा च लक्ष्मीर्लक्ष्मीवतश्चापि परा च कीर्तिः। वही,पृ0884-886
2. सामभेदस्तथादानं दण्डश्चमनुजेश्वर ।
   उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च पार्थिव ।। वही,पृ0 888
3. ध0शा0 इ0 [पृ0],पृ0 176

एक अन्य विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कृति मानव व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है। संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधरना, सुन्दर बनना या पूर्ण बनना है । इस अर्थ में मनुष्य की सुन्दरकृतियाँ और सूक्ष्म चिन्तन की अभिव्यक्ति संस्कृति है।[1]

इस अर्थ में यदि हम पौराणिक चिन्तन के स्वरूप का आलोचन करें तो यह हम देख सकते हैं कि इन ऋषियों ने तो धर्म[वर्तन] को मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य ही माना है और पग-पग पर धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की है। जहाँ तक मनुष्य के चिन्तन के विकास की प्रक्रिया का प्रश्न है तो उसमें भी पुराणों की कोई तुलना नहीं है । पुराणों का सम्पूर्ण वाङ्मय ही एक प्रकार से मनुष्य के श्रेष्ठ और मानवीय चिन्तन के विकास का इतिहास है। संस्कृति के श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों के समूह के रूप में पुराण कहते हैं कि सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय ऋजुता, सन्तोष आदि मनुष्य के श्रेष्ठगुण हैं । अन्नादि का सभी प्राणियों के लिए, प्रविभाग, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, सख्य और आत्मसमर्पण आदि से ईश्वराराधन ऐसे मनुष्य के अविच्छिन्न संस्कार हैं जिनसे जन्म और कर्म अवदात होते हैं तथा इन क्रियाओं को सभी आश्रमों के लिए कहा गया है।[2] इस रूप में संस्कृति की जो आदि

- -

1. वि०सा०सं०द०, पृ० 100-101
2. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
   अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
   संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
   नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
   अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
   तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
   श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
   सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
   x x x
   संस्काराः यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
   x x x
   जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥ भा०पु०, पृ० 376

अवधारणा थी और अधिकतम् रूप में जिसे मनुष्य के सद्गुणों के समुच्चय के रूप में जाना जाता है, उसका विवरण पग-पग पर पुराणों में देखा गया है और आज भी देखा देखा जा सकता है। और संस्कृति का सम्पूर्ण स्वरूप ... श्रेष्ठता के साथ पुराणों में पाया जा सकता है।

जहाँ तक धर्म के सम्बंध में पुराणों और पुराणकारों के विचारों को जानने का प्रश्न हो वहीं पर यह कहा जा सकता है कि पुराणकारों ने धर्म के सर्वाङ्गीण विचारों को सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत किया है। पुराणकार एक ओर वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार जहाँ प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए सामान्य धर्म की अवधारणा को विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं, वहीं वे माता-पिता, आचार्य, राजा आदि के विशेष धर्म की व्याख्या भी विशेष रूप से देते हैं। विशेष बात यह है कि धारणार्थक "धृ" धातु से निर्मित धर्म शब्द को पुराणकार पूरी तरह से क्रियात्मक मानते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि धर्म क्रियात्मक है और धर्माचरण में ही प्रयुक्त होने वाला कहा गया है। देवता, पितर, ऋषि और मानव "यह धर्म है और यह धर्म नहीं है" ऐसा कहकर मौनधारण कर लेते हैं। धृ धातु धारण करने तथा महत्व के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अधारण और अधर्म शब्द का अर्थ इसके विपरीत है। आचार्य इष्ट की प्राप्ति कराने वाले धर्म का ही उपदेश करते हैं। अधर्म अनिष्ट फलदायक होता है। इसलिए आचार्यगण उसका उपदेश नहीं करते।[1]

---

1. धर्मो धर्मगतिः प्रोक्तः शब्दो ह्येष क्रियात्मकः ।
   कुशलाकुशलौ चैव धर्माधर्मौ ब्रवीत प्रभुः ।।
   अथ देवाश्च पितरश्च ऋषयश्चैव मानुषाः।
   अयं धर्मो ह्ययनेति ब्रुवते मौनमूर्तिना।।
   धर्मेति धारणे धातुर्महत्वे चैव उच्यते।
   अधारणे ऽमहत्वे वाधर्मः स तु निरुच्यते।।
   तत्रेष्ट प्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते ।
   अधर्मश्चानिष्टफलं आचार्यै नोपदिश्यते।। म0पु0 (।।।), पृ0 534

धर्म के इस महत्त्व का कथन करने पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म, मन और वचन से प्रयत्नपूर्वक धर्म का आचरण करना चाहिए। ऐसे किसी भी कर्म का आचरण नहीं करना चाहिए जिससे स्वर्ग की प्राप्ति न होवे तथा जिससे कीर्ति न प्राप्त हो। लोक में निन्दा देने वाले कर्म का भी आचरण नहीं करना चाहिए।[1]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चतुर्वर्णों का विभाजन प्राचीन के समाज में स्वीकृत और मान्य था। पुराणों में स्थान-स्थान पर इन्हीं चारों वर्णों के लिए उनके कर्मों को कहा गया है, जो उनके लिए धर्म हैं। जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययनाध्यापनादि का निर्धारण किया गया है, क्षत्री के लिए प्रजा की रक्षा और ब्राह्मणेतर से कर ग्रहण करना कहा गया है। वैश्य के द्वारा वणिक वृत्ति और तथा शूद्र की सेवा वृत्ति को उसका धर्म कहा गया है।[2]

जिस प्रकार से चारों वर्णों के धर्मों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है उसी तरह से चारों आश्रमों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ के सम्बंध में भी उनके आचार का कथन किया गया है जो उनके लिए निर्धारित धर्म के रूप में द्रष्टव्य है।

---

1. कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।
   अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु।। मा0पु0 (पू0), पृ0 442

2. विप्रस्याध्ययनादीनि षड्न्यस्याप्रतिग्रहः।
   राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः।।
   वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
   शूद्रस्य वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।।
   शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।।
   वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम्।
   विप्रवृत्तिश्चतुर्थ्यं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।। भा0पु0, पृ0376; मा0पु0(पू0), पृ0 314-315

ब्रह्मचारी के लिए आचार निरूपण का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि, "शिष्यब्रह्मचारिणां धर्मा:।" ब्रह्मचारियों के लिए धर्म का आख्यान करते हुए यह निरूपित है कि दण्डधारण कर शौच और आचार से युक्त हो गुरु की ओर मुखकर ब्रह्मचारी अध्ययन करे। अन्य और व्यवहारों का अनुचरण करता हुआ ब्रह्मचारी नित्य ब्रह्मनिष्ठ होकर सावित्री की उपासना करे और वेदांग के प्रति विशेषरूप से निष्ठित हो।[1] इसी तरह से गृहस्थ के लिए अनेकधर्मों का कथन विस्तारपूर्वक किया गया है और यह कहा गया है कि गुरु के समीप से विद्या प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी अपने अनुरूप कन्या का वरण करके गृहस्थ धर्म में प्रवेश करें और अपने लिए निर्धारित धर्म का पालन करे। पुराण कहता है कि वेदोक्त अपने लिए निर्धारित कर्म का गृहस्थ व्यवहार करें क्योंकि इसका पालन न करने वाला भीषण नरक का गामी होता है। वह नित्य स्वाध्याय करे, यज्ञोपवीत धारण करे, सत्यवादी, जित क्रोधी, सन्ध्यावन्दनादि कर्म का सम्पादन करने वाला, राग, भय, क्रोध से रहित होवे।[2]

- -

1· एवं दण्डादिभिर्युक्त: शौचाचारसमन्वित:।
आहूतोऽध्ययनं कुर्याद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।।
....
अभ्यसेत्स तदानित्यं ब्रह्मनिष्ठ: समाहित:।
सावित्री शतरुद्रीयं वेदांगानि विशेषत: ।।कू0पु0,पू0।06-108;मा0पु0[पृ0]
पृ0 315

2· वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रित:।
अकुर्वाण: पतत्याशु नरकानतिभीषणान् ।।
x x x x
नित्यं स्वाध्यायशील: स्यान्नित्यं यज्ञोपवीतवान्।
सत्यवादी जितक्रोधी ब्रह्मभूयाय कल्पते । वही, पृ0 109

वानप्रस्थ और यति आश्रम के लिए भी अनेक धर्मों का कथन पुराणकार करते हैं। वे कहते हैं कि गृहस्थ आश्रम की अवस्था पूर्ण करने के पश्चात् सपत्नीक अथवा अपत्नीक होकर वन में जावे। वहाँ पर फलमूल के आहार से सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पायुक्त होकर रहे। इस प्रकार से जो शिव कार्य से शिव का आश्रय लेता है वह परमैश्वर्य की प्राप्ति करता है।[1] पुराणकार कहते हैं कि जब इस प्रकार वह वन में रह ले तब आयु के चतुर्थ भाग में संन्यास आश्रम का क्रम से आश्रय लेवे। जब मन से सभी तृष्णाओं से मुक्त हो जाए तब संन्यास धारण करें।[2]

सभी वर्णों और सभी आश्रमों के धर्मों का कथन करके भी पुराणों में राजा के धर्म का कथन विशेष महत्व देकर इसलिए किया गया है क्योंकि राजा को "सर्वदेवमयो नृपः" कहा गया है।[3]

1· एवं गृहस्थाश्रमे स्थित्वा द्वितीयं भागमायुषः।
   वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत्सदारः साग्निरेव वा।।

   x x x x

   फलमूलानि पूतानि नित्यमाहारमाहरेत् ।
   यताहारो भवेन्नेन पूजयेत् पितृदेवता:।।
   सर्वभूतानुकम्पी स्यात् प्रतिग्रह विवर्जिता:।

   x x x x

   ते विशन्ति परमेश्वरं पर्दयान्ति यत्र गतमस्य तीर्थ्यते। वही,पृ0129, मा0पु0
   (पू0),पृ0315

2· एवं वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भागमायुषः । वही,पृ0130

3· मा0पु0,पृ0376

राजा के लिए धर्म कथन करते समय यह कहा गया है कि राजा का एक मात्र परम धर्म है आर्तप्राणियों की रक्षा करना।[1] इस धर्म के अतिरिक्त राजा के लिए राष्ट्र रक्षा के विशिष्ट धर्म का भी कथन पुराण में किया गया है और यह कहा गया है कि जो भूमि विजेता शत्रु हों, राजा को उन सबको अपने वश में करना चाहिए। अपने राष्ट्र की रक्षा में तत्पर राजा का कर्तव्य है कि वह उपेक्षा के कारण प्रजा को कभी भी दुर्बल न होने दें। जो अज्ञानवश, असावधानी से अपने राष्ट्र को दुर्बल कर देता है, वह शीघ्र ही भाई और बन्धुओं सहित राज्य एवं जीवन से च्युत हो जाता है। जिस प्रकार पालतू बछड़ा बलवान् होने पर कार्य करने में समर्थ होता है उसी तरह से पालन-पोषण कर समृद्ध किया हुआ राष्ट्र भविष्य में कार्यक्षम हो जाता है। जो अपने राष्ट्र के ऊपर अनुग्रह की दृष्टि रखता है, वस्तुत: वही राज्य की रक्षा कर सकता है, माता और पिता के समान राजा राष्ट्र की रक्षा में तत्पर होकर नित्य प्रति अपने कार्य में सन्नद्ध रहे।[2]

---

1. एष राज्ञां परोधर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रह:। वही ,पृ08।

2. तानानयेद् वशे सर्वान् सामादिभिरुपक्रमै:।
   यथा न स्यात् कृशीभाव: प्रजानामनवेक्षया ।।
   तथा राज्ञा प्रकर्तव्यं स्वंराष्ट्रं परीरक्षता।
   मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं य: कर्षयत्यनवेक्षया।।
   सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धव:।
   भृतोवत्सो जातबल: कर्मयोग्यो यथाभवेत् ।।
   तथा राष्ट्रं महाभाग भृतं कर्मसहं भवेत् ।
   यो राष्ट्रमनुगृह्णाति राज्यं स परिरक्षति।। म0पु0 [illegible],पृ0 686

इसी रूप से जब पुराणकार दान,सत्य,तपस्या,निर्लोभ ,विद्या,यज्ञानुष्ठान,पूजन और इन्द्रिय निग्रह की बात करते हैं तो वे इसे शिष्टाचार का नाम देते हैं और यह कहते हैं कि इनका आचरण क्योंकि मनु,सप्तर्षियों तथा अन्य आचार्यों ने किया है,इसलिए ये शिष्टाचार है।[1] यही वे धर्म के सामान्य तत्व हैं जो सभी के द्वारा अनुकरणीय हैं तथा इनका जो आधार लेता है वह भी शिष्टों की श्रेणी में गिना जाता है। सभी सामान्य के लिए अनुकरणीय और पालनीय होने के कारण इन्हें एक प्रकार से सामान्य धर्म भी कहा जा सकता है। पुराणों में इस सबके रूप में धर्म का विचार बड़े व्यापक रूप से किया गया है और यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि धर्म ही धारण करने के कारण मनुष्य की मूल भावना है।

सर्व मंगल कामना :-

संस्कृत साहित्य के प्राचीन तथा अर्वाचीन किसी भी खण्ड में देखने पर यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो जायेगा कि इसमें सर्वमंगल कामना के स्वर न केवल मुखर हैं अपितु इस सम्पूर्ण साहित्य का उद्देश्य ही सर्वमंगल कामना का रहा है और इसी उद्देश्य के अनुकूल इस साहित्य की रचना की गई है।

पुराणों का उद्देश्य भी इसी के अनुरूप रहा है और व्यक्ति के तथा समाज के मंगलभाव को लेकर ही इनकी रचना की गई है। इसी दृष्टि से प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः भी पुराण सर्वमंगल कामना के भाव से यह इच्छा करते हैं कि इस

---

1. दानं सत्यं तपो लोभो विद्येज्या पूजनं दमः ।
   अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम्।।
   शिष्टा यस्माच्चरन्त्येनं मनुः सप्तर्षयश्च ह ।
   मन्वन्तरेषु सर्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः ।। वही,पृ0 535

धरती का कोई भी जीव दुखी न रहे, किसी को रोग बाधित न करे और कोई भी किसी प्रकार की पीड़ा की अनुभूति न करे। अपनी आस्था को ईश्वर के प्रति व्यक्त करते हुए इसीलिए पुराणकार कहते हैं कि जो परम प्रभु नित्य एवं सनातन है, जो प्रकृति और पुरुष के रूप में अथवा अन्य किसी भी रूप में इस जगत में व्याप्त हैं, वे भगवान हरि मनुष्य मात्र को जन्म और जरा से मुक्ति प्रदान करें। अर्थात् प्रभु की कृपा प्राप्त करके कोई भी न तो जन्म के दुःख से दुखी होवे और न ही किसी को जरा अवस्था के दुःख का अनुभव करना पड़े।

पुराण आस्तिकभाव से ईश्वर के अनेकरूपों की कथाओं का अनेकानेक प्रकार से गायन करते हैं और उसी क्रम में जब वे अपनी प्रणति प्रभु के प्रति समर्पित करते हैं तब वे यह कामना नहीं करते कि उसका फल केवल उनको ही मिले। वे कामना करते हैं कि इसका फल सभी के लिए आनन्ददायक होवे। जब वे अपने इस भाव से भगवान की प्रार्थना करते हैं तो कहते हैं कि आप पिता स्वरूप हैं, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप इस संसार के सभी प्राणियों की मुक्तिके हेतुभूत हैं। आपके स्मरण और दर्शनमात्र से मनुष्य जन्म से प्राप्त तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है। इसीतरह का भाव वे तीर्थ की पवित्रता के प्रति भी व्यक्त करते हैं और कहते हैं कि यह ऐसा पवित्र तीर्थ है जिससे मनुष्यमात्र को सर्वस्व की प्राप्ति होती है।[2] इससे उनका सर्वमंगलभाव प्रकट होता है।

---

1. इति विविधमजस्य यस्य रूपम्, प्रकृतिपरात्ममयं सनातनस्य।
   प्रदिशतु भगवानशेष पुंसां, हरिरपजन्मजरादिकां ससिद्धिम्।। वि०पु०[वि०],पृ०417

2. जनार्दन नमस्तुभ्यं नमस्ते पितृरूपिणे।
   पितृपाश्नमस्तुभ्यं नमस्ते मुक्तिहेतवे।।
   त्वां दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्ष मुच्यते च ऋणत्रयात्।
   नमस्ते पुण्डरीकाक्ष ऋणत्रय विमोचनम् ।।
   इदं स्वस्त्ययनं पुण्यं धन्यं स्वर्गमिदं नृणाम्।
   यशस्यमपि चायुष्यं पुत्र पौत्र विवर्धनम्।। ना०पु०उ०, पृ० 502

इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर पुराणकार अनेकों देवताओं की स्तुति करता हुआ समस्त प्राणिजनों के लिए सम्पत्ति, वृद्धि और सर्वमंगल की कामना करता है। वह सर्वप्रथम मंगल के देवता गणपति की प्रार्थना करता है और उनकी महिमा में कहता है कि जिस गणेशदेव के अप्रसन्न होने मात्र से छोटे से छोटे कार्य को भी ब्रह्मा नहीं कर पाता और जिस चरणारविन्द का सेवन ब्रह्मा ने भी बार-बार किया था, वह गणपति आपको सभी प्रकार से मंगल का प्रदाता हो। पुराणकार ने अपनी परम्परा के अनुकूल ही यह कहा कि वे गणपति इतने महत्वपूर्ण हैं कि सभी प्रकार से सौभाग्य देने वाली लक्ष्मी भी गणेश के द्वारा ही सौभाग्य देने में सक्षम हुई है। इसके बाद पुराणकार सभी के लिए वाणी का वरदान चाहते हैं और सभी को वाग्देवता की सिद्धि हो, ऐसी कामना भी वाग्देवी से करते हैं। उस वाग्देवि का महत्व इतना है कि उसके चरणों में अमल और कोमल अंगुलियों की ज्योत्सना से उद्वेलित शब्दरूपी ब्रह्म बुधजनों के मानस में खेला करता है। इसी प्रकार से वह शिव, जो आनंद और लीलाओं का विस्तार करने के लिए तथा संसार में त्रिदेव के रूप में पालन और प्रलय की लीला के सूत्रधार हैं, हम सब के कल्याण के लिए हों तथा सम्पूर्ण विश्व में मंगल का विस्तार करें। इसी तरह से पुराणकार अन्य देवों की भी स्तुति करते हैं और यह कामना करते हैं, कि सभी का सभी प्रकार से मंगल हो।[1]

---

1. कल्याणं ददातु वो गणपतिर्यस्मिन्नतुष्टे सति ।
क्षोदीयस्यापि कर्मणि प्रभविष्णुं ब्रह्मापि जिह्मायते ।।
x x x x
यत्पादामलकोमलांगुलिनखज्योत्स्नाभिरुद्वेलितः।
शब्दब्रह्मसुधाम्बुधिर्बुधमनस्युच्चैस्तरां खेलति।। भ०पु० ब्रा० पर्व, पृ० 293

समीक्षा:-

इस रूप में भारतीय मनीषा की जो प्रकृति और प्रवृत्ति है तदनुसार न केवल पुराण साहित्य में अपितु वेद वाङ्मय से लेकर अर्वाचीन वाङ्मय में सर्वमंगल की कामना विस्तार के साथ की गई है। इस कामना में पुराणकारों ने केवल शरीर की स्वस्थता अथवा भौतिक पदार्थों की ही अपेक्षा नहीं की है, अपितु पारलौकिक स्थितियों में भी मुक्ति की अपेक्षा सभी के लिए की है। इसी प्रकार से सरस्वती की वन्दना इस निमित्त की गई है कि वाग्देवी सभी की बुद्धि का वैशिष्ट्य बढ़ाये और उस बुद्धि से सभी परस्पर मंगल कामना करें। इस भाव से सहज स्वाभाविक है कि सभी का सभी के प्रति अनुराग बढ़ेगा तथा अपने राष्ट्रजीवन के सुख और सौविध्य के गौरव का भी अनुभव होगा।

।=/0/=।

पंचम अध्याय

[राष्ट्र एवं राष्ट्रियता की परिकल्पना तथा निष्कर्ष]

पंचम अध्याय

(राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की परिकल्पना तथा निष्कर्ष)

राष्ट्र का प्रारम्भिक और अधुनातन रूप, राष्ट्रीयता की प्राचीन तथा अर्वाचीन परिकल्पना, पृथिवी का आधिकारिक महत्व, पृथिवी का मातृरूप, राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का समीकृत स्वरूप, निष्कर्ष।

पंचम अध्याय

राष्ट्र एवं राष्ट्रियता की परिकल्पना तथा निष्कर्ष

(राष्ट्र का प्रारम्भिक और अधुनातन रूप)

भारतीय चिन्तन का आदि स्रोत वेद हैं- इस सम्बंध में किसी भी प्रकार की दुविधा की स्थिति नहीं है। हम जब भी किसी विषय पर विचार करने का प्रारम्भ करते हैं और उसके आदि स्वरूप को जानने की इच्छा करते हैं , तब सर्व प्रथम हमारे सामने वेद ही उपस्थित होते हैं। इस रूप में यदि हम राष्ट्र के प्रारम्भिक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहेंगें, तब भी हमें वेदों के प्राचीन वाङ्•मय को ही देखना पड़ेगा और निश्चयेन ही जब हम वेदों में देखेंगें , तो हमें राष्ट्र का स्वरूप दिखाई भी देगा। वेद मुख्यरूप से अग्नि,इन्द्र, उषस्, वरुण सविता आदि देवताओं की प्रार्थना करते हैं और इनसे ही सभी के लिए मंगल कामना की इच्छा करते हैं तथा वे विविध यज्ञों के आयोजन के माध्यम से अपनी भूमि की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हुए राष्ट्र की समुन्नति, व्यक्ति की सम्पूर्णता के माध्यम से चाहते हैं। इस रूप में चाहे, व्यक्ति की महत्ता का प्रतिपादन हो, चाहे इन्द्र, वरुण, उषस् और पृथिवी की विशेषता का वर्णन हो, वे अप्रत्यक्ष रूप से एक ऐसे राष्ट्र की परिकल्पना तो करते ही हैं, जो सर्वाङ्• सुन्दर हो, सभी प्रकार से परिपूर्ण हो और सभी प्रकार से ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो। एक प्रकार से बिना राष्ट्र शब्द का उद्धरण दिये हुए भी हमको यह संगत प्रतीत होता है कि व्यक्ति, वस्तु और वातावरण की श्रेष्ठता का जो सम्मिलित परि-कल्पन वैदिक ऋषियों के मन में था, वह एक प्रकार से अमूर्त होता हुआ भी मूर्त ही था और वह एक श्रेष्ठ एवं सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वरूप था।

किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि राष्ट्र शब्द का प्रयोग वेद साहित्य में नहीं है अथवा इसकी परिकल्पना का कोई स्पष्ट स्वरूप वेदों में प्राप्त नहीं है। वहाँ जब भी यज्ञादि कार्य सम्पादित होते थे तो वे ऋषि अपने राष्ट्र के लिए जल प्रवाहिणी नदियाँ ,सूर्य सा तेज, ओजस्विता, जनभरण की क्षमता ,

विश्वम्भरण की क्षमता की अपेक्षा करते थे।[1] वे स्पष्ट रूप से यह माँगते थे कि हे देवताओ! हमारे राष्ट्र के लिए ओज का वरदान दो। यह हमारा राष्ट्र सूर्य के प्रभामण्डल सा चमत्कृत होकर प्रकाशित हो। हमारे इस राष्ट्र की ही नहीं, इस सम्पूर्ण विश्व की पूरी तरह से सुरक्षा हो और यह हमारे लिए हमारा स्वराज हो।

वैदिक ऋषियों के मन में एक ऐसे ही भूभाग की कल्पना है जिसमें ब्रह्म वर्चस् ब्राह्मण हों, शासन संचालन में दक्ष राजा शूर-वीर हों और महारथी हों, दूध देने वाली गायें, पुरन्ध्रि योषा, समय पर वर्षा करने वाले मेघ, सुपक्व ओषधियाँ तथा योग और क्षेम से युक्त देश होवे।[2]

वेदोत्तर काल में पुराणकार भी राष्ट्र की परिकल्पना को एक स्वरूप देते हैं और वे भी यह आकांक्षा करते हैं कि उनका राष्ट्र सभी प्रकार से सम्पन्न और सौविध्य से परिपूर्ण होवे। पुराणों में पृथिवी के विस्तार का यत्र-तत्र उल्लेख है और इस भारतीय राष्ट्र के लिए जो परिचयात्मक आख्यान हैं उनके अनुसार हिमाद्रि से दक्षिण की ओर जो विस्तृत भूभाग है और जिसे ऋषभ नरेश ने अपने पुत्र भरत के लिए दिया था, वह यह भारत वर्ष है। इसी से इसका नाम भारत वर्ष हुआ है।[3]

---

1. यजु० सं० 10/14
2. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
   आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
   . . . . ।
   ओषधय: पच्यन्ताम्, योगक्षेमो न: कल्पताम् " यजु० सं० 22/22
3. हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
   तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा: ।। लिं० पु०, पृ० 46

इसी प्रकार से दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत का भी उल्लेख प्राप्त होता है और वहाँ भी यह कहा गया है कि इसी भरत के नाम से भारतवर्ष का नाम भारत पड़ा है।[1] और इस रूप में प्राचीन राष्ट्र की परिकल्पना का वही रूप स्पष्ट होकर आता है जो एक विस्तृत भूखण्ड है और जिसे जम्बूद्वीप या भारत खण्ड के नाम से जाना जाता है तथा जिसके लिए सभी जीव निरन्तर मंगल की कामना में निरत रहते हैं।

राष्ट्र के जिस अद्यतन रूप के सन्दर्भ में विचार किया जाता है उसके अनुरूप राष्ट्र का अर्थ राज्य अथवा देश किया जाता है । इस अर्थ के साथ यह निरूपित किया गया है कि किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनका वेश, भाषा आदि एक हों, वह क्षेत्र राष्ट्र कहा जाता है।[2] और इस क्रम में जब राज्य का अर्थ देखा जाता है तब राज्य का अर्थ राजा का काम, शासन अथवा वह क्षेत्र जिस पर किसी राजा का शासन हो- किया जाता है।[3]

1• पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं दुष्यन्तस्तनयस्तत: ।
शकुन्तलायां तस्याच्च भरतो नाम भूपति: ।।

x x x x x

तस्य नाम: स्मृत: खण्डो भारतो नाम विश्रुत: ।। म० पु० 8 पृ० 8, पृ० 302

2• मा० हि० को०, पृ० 505

3• वही, पृ० 498

अन्य स्थानों में राष्ट्र के जो अर्थ लिए गए हैं तदनुसार इसे "किंगडम" अथवा "टेरीटरी" के रूप में व्याख्यात किया गया है।[1] इसी प्रकार से अन्य स्थानों पर राजनीति के विचारकों में प्लेटो का यह अभिमत है कि राज्य आत्मा की रचना का दिग्दर्शन करता है। इसके तीन भाग होते हैं जो आर्थिक, सैनिक और राजनीति के रूप में संगठित होते हैं।[2] जिन विचारकों की समझ यह है कि राज्यों का यह संगठन, जो परस्पर सहमत होकर एकसे अधिक राज्यों को संगठित होकर बनता है, वे यह मतव्यक्त करते हैं कि लगभग एक ही प्रकार के दो या दो से अधिक राज्य मिलकर समझौते द्वारा किसी विशाल राज्य को स्थापित कर लेते हैं, तब संघ का जन्म होता है।[3] अन्य एक विचारक राजतन्त्रीय शासन की एक सत्तात्मक स्थिति से संघ का संकेत करते हैं और यह कहते हैं कि राजतन्त्रीय शासन वह है जिसमें सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है।[4]

इस रूप में हम प्राचीन और अद्यतन राष्ट्र के रूप में शाब्दिक रूप से यदि बहुत भिन्न अर्थ न भी देख सकें तो भी यह मानना चाहिए कि प्राचीनकाल में सम्पूर्ण भारतीयभूमि के लिए राष्ट्र का भाव व्यक्त होता था, भले ही पृथक्-पृथक् राजाओं के राज्य को राज्य के रूप में कहा जाता हो।

- -

1. भा० स्टे० इ० हि०, पृ० 93।
2. पा० रा० वि०, पृ० 91
3. रा० नि० , पृ० 89
4. पृ० रा० वि० , पृ० 253

इसका प्रमाण यही है कि ऋषिगण जब यज्ञों के फल रूप में मंगल की कामना करते थे, अथवा भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रार्थना से कुशलता चाहते थे तब भी उनके मन में सम्पूर्ण राष्ट्र की कुशलता की इच्छा होती थी, किसी एक राजा के राज्य की कुशलता की कामना नहीं होती थी। वर्तमान में राज्यों के परस्पर मिश्रित संघ को यदि राष्ट्र के रूप में लें तो इसे भी प्राचीन भारतीय राष्ट्र के रूप में ही जानना चाहिए, जो हिमालय के दक्षिण से लेकर उत्तर तक फैला हुआ है। यही हमारा राष्ट्र है जो एक विशाल क्षेत्र की प्रतीति कराता है।

राष्ट्रियता की प्राचीन तथा अर्वाचीन परिकल्पना

संस्कृत के शब्दस्तोम महानिधि में राष्ट्रिय शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा गया है-"राष्ट्रे भवः राष्ट्रियः।"[1] इस रूप में यदि हम राष्ट्रिय शब्द का भावार्थ जानना चाहें तो यह जान सकते हैं कि जो राष्ट्र में है और जो राष्ट्र के लिए है वह राष्ट्रिय है। और इस रूप में हम वेद तथा वेदोत्तर साहित्य को देखें, जैसा कि पूर्व में संकेतित हो चुका है, तो यह देख सकते हैं कि इस साहित्य में अपने राष्ट्र के लिए सर्वश्रेष्ठ होने की भावना पग-पग पर व्यक्त की गई है और इस राष्ट्र के लिए मंगल कामना की गई है। इस भावना में वहाँ अपने इस राष्ट्र के सभी अंगों जैसे राजा, प्रजा, सेना, कोश, नदी, पर्वत, वन, कृषि, एकता आदि के लिए यह चाहा गया है कि यह सब उत्तम हो और श्रेष्ठता के प्रतिमानों को स्पर्श करने वाला हो। हमारा राजा पृथ्वी पर इसलिए शासन न करे कि उसे अपने शासन का भोग करना है,

---

1. श० म० नि०, पृ० 363

वह तो इस पृथिवी पर इसलिए शासन करे कि उसे इस पृथिवी को धर्मपूर्वक पालन करना है, वह इस पृथिवी को किसी भी रूप में हिंसित न करे।[1] उसके राज्य में न तो कोई दरिद्र हो, न कोई रोगी हो, न कोई पाप-कर्म में लिप्त हो। उसके राज्य में प्रजा दीर्घायु होवे और धन-धान्य से समृद्ध हो।[2] इसी तरह से प्राचीन ऋषियों ने अपनी यह भावना व्यक्त की है कि हमारे राष्ट्र में सभी का हित हो, सभी लोग सुख पूर्वक निवास करें, यह विशाल राष्ट्र सभी के लिए कल्याणकारी हो और सभी निवासी मन, विचार तथा क्रिया से परस्पर एकताबद्ध होवें।[3]

इसी भाँति से वैदिक और वेदोत्तरकालीन ऋषियों ने नदियों, पर्वतों और अपनी भूमि के प्रति भी इस प्रकार की भावना व्यक्त की है जिससे उनका इन वस्तुओं के प्रति प्रेम व्यक्त होता है और इनकी सर्वश्रेष्ठता ध्वनित होती है। वे यह अपेक्षा करते हैं कि यह भूमि भूरिधारा वाली होवे तथा इसका स्वरूप मंगलमय हो।

जहाँ तक अधुनातन राष्ट्रिय के स्वरूप का प्रश्न है तो यह देखा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने और अनेक विचारकों ने अपने-अपने भावों को अपनी-अपनी शब्द शैली में व्यक्त किया है। हिन्दी के एक कोश में राष्ट्रिय शब्द का अर्थ राष्ट्र का स्वामी, राष्ट्र सम्बन्धी,

---

1• अथर्व 1/18/5

2• आयुर्धनानि सौख्यं च पृथौ राज्यं प्रशासति।
न दरिद्रस्तथा कश्चन न रोगी न च पापकृत्।। म0 पु0 [प्र0] पृ0 33

3• सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्व: संनमयामसि।। अथर्व 3/8/15

राष्ट्र के अंग अथवा सदस्य होने का भाव दिया गया है। इसी अर्थ में यहाँ पर अंग्रेजी के "नेशनलिज्म" शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[1] इस रूप में राष्ट्रिय शब्द का भाव यही होता है जिसके अनुसार इसका अभिप्राय राष्ट्र से सम्बन्धित होता है। यह सम्बन्ध पृथिवी का, राजा का, राज्य का तथा अन्य सभी प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है और इसी सम्बन्ध से अनुप्रेरित होकर पाश्चात्य तथा भारतीय विचारक अपने विचार व्यक्त करते हैं। एक विद्वान् का राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में यह अभिमत है कि राज्य का उद्देश्य नागरिकों में सद्गुणों का विकास करना और पूर्ण तथा आत्म निर्भर जीवन की प्राप्ति करना है।[2] जब कि अन्य मत यह है कि जो व्यक्ति के लिए उत्तम या आनन्द-दायक है वही समुदाय अर्थात् राज्य के लिए सामूहिक रूप से उत्तम और आनन्द-पूर्ण है।[3] इस रूप में राज्य एक समूह है और ऐसे समूह के लिए आनन्द ही उत्तम प्राप्ति अथवा उपलब्धि है।

जिस प्रकार से हम प्राचीन ऋषियों के इस भाव को व्यक्त कर चुके हैं कि उन्होंने राष्ट्र की श्रेष्ठता और मंगल कामना को जैसा स्वर दिया है उसी से उनका राष्ट्रिय स्वर और राष्ट्रियभाव मुखरित होता है तो उसी रूप में हम अद्यतन विचारकों के विचारों को भी देख सकते हैं।

---

1. मा० हि० को०, पृ० 506
2. आ० रा० चि०, पृ० 57
3. आ० रा० चि०, पृ० 187

जिनमें वे कहते हैं कि राज्य एक प्रकार का संघ है और सभी संघ किसी न किसी तरह से कल्याण हेतु संगठित किए जाते हैं। और यही किसी राज्य अथवा संघ का आदर्श स्वरूप है।[1] एक अन्य विद्वान् भी इसी तरह से अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं और यह कहते हैं कि मानव राष्ट्रों का कष्टों से छुट-कारा तब तक नहीं हो सकता जब तक दार्शनिकों का सम्प्रदाय राजनीतिक पद ग्रहण नहीं करता। अथवा राज्य का वह पद किसी ईश्वरीय आज्ञा से दर्शन के पथपर नहीं चलता।[2] और राष्ट्र तथा राज्य की विशिष्टता की अपेक्षा वाला भाव हमें इन शब्दों में भी दृष्टिगत होता है जिनमें यह कहा गया है कि हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के ही नहीं वरन् संघों, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार के सिद्धान्त बनाना है।[3]

इस प्रकार से यदि हम राष्ट्रिय भाव का आंकलन करना चाहें तो उसे इस रूप में आकलित कर सकते हैं कि चाहे प्राचीन ऋषियों की राष्ट्र-संभावना हो अथवा अद्यतन विचारकों का राष्ट्रिय विचार का भाव हो, सभी के मन में अपने राष्ट्र के गौरव के प्रति आकर्षण है और सभी अपने-अपने क्रम से राष्ट्र की श्रेष्ठता के भाव को उपस्थापित करते हैं।

---

1. पा० रा० चि०, पृ० 190 ; रा० चि० इ०, पृ० 228
2. पृ० रा० चि०, पृ० 1
3. भा० रा० चि०, पृ० 327

प्राचीन भावों में आस्तिकता के स्वर के साथ यह कहा गया है कि हमारी भूमि, हमारे पर्वत, हमारी नदियाँ, हमारे राजा और राज्य सभी के लिए मंगलकारी हों और ऐसा हों जो अन्य सभी से श्रेष्ठ हों। यह श्रेष्ठता उसी भूमि, पर्वत, नदी, वन, राजा और राज्य से चाही गई है और इन्हीं के प्रति अपनी आस्था प्रकट कर के इनसे ही श्रेष्ठ होने की अपेक्षा की गई है। जबकि आधुनिक विचारक भी अपने राज्य किं वा राष्ट्र के प्रति ऐसे ही भाव रखते हैं जिनमें वे यह व्यक्त करते हैं कि राज्य का श्रेष्ठ स्वरूप यह है जब वह सभी के लिए आनन्द और सुख के साधन जुटाए। इस रूप में ही इनकी भी राष्ट्रभावना व्यक्त हुई है।

पृथिवी का आदि कालिक महत्त्व :-

पृथिवी का महत्त्व अन्य किसी कारणों से चाहें किसी के लिए हो अथवा न हो किन्तु व्यावहारिक और यथार्थ रूप में तो हम यह देखते ही है कि पृथिवी के बिना हमारी ही नहीं किसी की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जो सृष्टि का वास्तविक स्वरूप है, तभी संचालित रह सकता है और इस अर्थ में सृष्टि को तभी जाना जा सकता है जब पृथिवी का अस्तित्व रहे और पृथिवी हमारे लिए यथा स्थिति में होवे । पृथिवी शब्द के मूल में जो "पृथु" है उसके अर्थ चौड़ा, विस्तृत, अधिक विपुल, बड़ा, महान् दिए गए है जिसका अभि प्राय है कि पृथु शब्द से निर्मित पृथिवी अपने विस्तार, चौड़ेपन, अधिक भाव, विपुलता तथा बड़ेपन को ही व्यक्त करती है।[1]

---

1. सं० श० कौ०, पृ० 733

इस रूप में पृथिवी इतनी बड़ी, इतनी चौड़ी, इतनी विस्तृत और इतनी विपुल है कि इसके ओर-छोर को कोई भी आज तक जान नहीं सका है। यह इसका आदि कालिक स्वरूप है और अद्यतन भी। इसमें कमी करके, इसको किसी भी अंश में घटा करके अथवा छोटा करके पृथिवी को न जाना जा सकता है और न समझा जा सकता है। इसी के साथ ही जब इसी "पृथु" से ङीष् प्रत्यय करके जब पृथिवी शब्द की निर्मिति होती है तब इसका अर्थ किया जाता है सौरमण्डल के उस प्रसिद्ध ग्रह से जो मर्त्यलोक स्थित है।[1] और इस प्रकार से भी यह पृथ्वी महत्वपूर्ण ग्रह के रूप में जानी जा सकती है क्योंकि समस्त मर्त्य प्राणी इसी ग्रह पर अवस्थित हैं। यदि इस पृथ्वी ग्रह की इस स्थिति को न जाना जाए और इसे न समझा जाए तब भी समस्त मर्त्यों की अवस्थिति होने के कारण भी इसके आदि कालिक महत्त्व को कम करके नहीं जाना जा सकता है और न ही पृथिवी के महत्व को कम करके समझा जा सकता है।

पृथ्वी का एक पर्याय भूमि है। और इस शब्द भूमि का यदि व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ देखा जाए तब भी पृथिवी का महत्व समझ में आ जावेगा और जीव मात्र के लिए उसकी कैसी अनिवार्यता है यह भी स्पष्ट हो जावेगा। "भवन्ति भूतानि अस्याम् सा भूमि:"[2] अर्थात् जिस पर समस्त भूतजात होते हैं, वह भूमि है। इस रूप में भी भूमि का महत्व अपने आप प्रकट हो जाता है क्योंकि भूमि के बिना भूतजात की स्थिति नहीं हो सकती है। और इसीलिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस भूमि का महत्वपूर्ण ढंग से वर्णन किया है।

---

1. वही, पृ0 733
2. सं0 श0 कौ, पृ0 863

तथा उसका स्मरण किया और बार-बार यह कहा कि यह भूमि हमारे लिए बहुत महत्व की है तथा इसकी अवस्थिति से ही हमारी अवस्थिति है। प्रतीत यह होता है कि भूमि के ऐसे महत्व का अंकन करने के पीछे आचार्यों का दो प्रकार का भाव रहा होगा। एक तो यह कि भूमि के बिना हमारा कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, दूसरे ऐसी भूमि हमारे लिए निरुपयोगी है जो समतल न हो, कृषि योग्य न हो और जिससे हमारे कल्याण की योजनाएँ साधित न हों। इसीलिए जब-जब भूमि का चित्रण वेदों में अथवा वेदोत्तर साहित्य में हुआ है तब-तब भूमि से ही यह प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए मंगल कर और सुखकर होवे और हम बढ़ने वालों को और बढ़ावे।[1] दूसरा भाव यह हो सकता है कि आचार्य कृतज्ञता के भाव से भरे हुए हैं और जिस भूमि में उनको आधार मिला है तथा जिस पर रहकर वे अपना जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हैं उसके महत्व का कथन करके वे इसके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। इस लिए यह भूमि उनकी दृष्टि से महत्वपूर्ण और आदर्श है।

पृथिवी का मातृ रूप -

उपरि उल्लिखित दृष्टि से वैदिक और वेदोत्तर साहित्य में जब पृथिवी का उल्लेख आता है तो उसके अन्य रूपों के साथ-साथ उसे माता का पद दिया जाता है और यह कहा जाता है कि हे पृथिवी! तुम हमारी माता हो और हम तुम्हारे पुत्र हैं।[2]

---

1. सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना । वे० सु०, पृ० 19

2. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । वही, पृ० 17

यह एक ऐसा भाव है और ऐसा सम्बन्ध है जिसकी महनीयता और पवित्रता की तुलना संसार के किसी अन्य सम्बन्ध से नहीं की जा सकती है और जिसके बराबर पालक तथा पाल्य का भाव अन्य किसी भी सम्बन्ध में हो नहीं सकता है। इसी लिए, इसी भाव से अभिभूत होकर ऋषि की यह प्रार्थना है कि हे माता! हम तुममें निवास करते हुए अजित रहें, अहत रहें, अक्षत रहें और विशेष रूप से अधिष्ठित होकर शासन करें।[1] इसी तरह अन्य स्थान पर कहा गया है कि सत्य, महत्, सत्याचरण, उग्रता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ इन सब गुणों को पृथिवी धारण करती है। यह पृथिवी हमारे भूत, भविष्य और वर्तमान की पालिका है। अर्थात् जो उत्पन्न हुए थे, जो उत्पन्न होने वाले हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे, उन सभी का संरक्षण यह पृथिवी करती है। ऐसी यह भूमि हमारे लिए समृद्ध और विस्तृत लोक का निर्माण करे अथवा हमारे इस राष्ट्र को महान् बनावे।[2]

यह भूमि माता की भाँति इसीलिए है क्योंकि यह सभी प्रकार की सामग्री उसी तरह अपने जनों के लिए रखती है जैसे कोई माता सभी सामग्री अपने पुत्रों के लिए रखती है। मनुष्यों के लिए यह भूमि बाधा रहित, ऊँचे-नीचे और समतल भूमि प्रदेशों वाली है

---

1. अजीतो हतो अक्षतो ध्यष्ठां पृथिवीमहम् । वे0 सू0 ,पृ0 16
2. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
   सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।। वही, पृ0 ।

तथा अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है। यह उन सभी शक्ति सम्पन्न ओषधियों को तथा अन्न आदि को उसी तरह से धारण करे तथा कीर्ति देने वाली एवम् श्री-सम्पत्ति प्रदान करने वाली हो।[1]

भूमि के इस महत्व को पुराणकार भी इसी तरह से स्वीकार करते हैं और वे तो यहाँ तक कहते हैं कि हमारी यह मातृभूमि ऐसी है जहाँ रहकर और जहाँ काम करके कोई भी स्वर्ग और मोक्ष तक की प्राप्ति कर सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस भूमि के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी भूमि नहीं है जहाँ पर किसी को कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो अथवा किसी प्रकार का कर्म कर सकता हो। वे यह भी वर्णन रहकरते हैं कि यहाँ की अमृत सलिला नदियों का जल जन पीते हैं और उनके किनारे रहकर लोग स्वस्थ और आनन्द का अनुभव करते हैं।[2] इतना ही नहीं, पौराणिक ऋषि इतना तक कहते हैं कि इस भूमि पर रहकर मनुष्य अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर वह सब कुछ करने में समर्थ और सक्षम हो सकता है जो सुर और असुर भी नहीं कर सकते हैं।[3]

और इस रूप में हम अपनी इस भूमि को केवल एक मृत्तिका मात्र न मानकर इसे मातृवत मानते हैं और प्राचीन समय से भी इसको ऐसा ही मानते चले आए हैं।

---

1. असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्याः उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
   नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ।।

   वही, पृ० 3

2. कू० पु० 19/1-26
3. मार्क० पु० 57/58-63

वर्तमान कालिक आधुनिक रचनाकार, कविगण भी इस भारतभूमि के प्रति अपने महनीय भाव रखते हैं और यह कहते हैं कि विद्वद् वृन्द के लिए सुवन्दित भारत भूमि तेरी जय हो, जय हो।[1] यह हमारी जन्मभूमि हमारे लिए शान्ति का धाम है।[2]

राष्ट्र तथा राष्ट्रियता का समेकित स्वरूप

जैसा हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि राष्ट्र, देश, राज्य, जनपद अथवा एक स्वशासी भूखण्ड के रूप में हमारे ऋषियों, पुराणकारों और अन्य अनेक विचारकों ने राष्ट्र की कल्पना की और फिर उसकी विशिष्टता के गुण गाकर उसके प्रतिजन मानस में जो भाव उत्पन्न किए, वे राष्ट्रियभाव के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस रूप में यदि देखा जाए तो राष्ट्र एक स्थूल और भूमि सम्बन्धी परिकल्पना है और राष्ट्रियभाव नितान्त रूप से भावात्मक भाव है। राष्ट्र की परिकल्पना में जहाँ एक भूभाग की परिकल्पना होती है, उसके पर्वतों, वनों, नदियों, नगरों, ग्रामों, निवासियों के साथ-साथ उसके साहित्य, धर्म, दर्शन और विचारधाराओं की चर्चा होती है, वही उसके लिए एक ऐसे शासन की भी परिकल्पना होती है,

---

1. स0 च0 1/1
2. उ0 स0 वी0 35/22

जो प्रजा के हित के लिए और राष्ट्र के निरन्तर विकास के लिए समर्पित हो तथा उस शासन से सम्पूर्ण राष्ट्र, एक जुट होकर अपने स्वरूप को निरन्तर निखारता रहे। राष्ट्र के इस स्वरूप की परिकल्पना में यह भी अन्तर्निहित होता है कि यह राष्ट्र अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को रख रहा हो और उसकी इस स्वतन्त्रता से उसके निवासी स्वयम् को गौरवान्वित अनुभव करते हों। इस रूप में कोई भी राष्ट्र एक निश्चित भूभाग की कल्पना के साथ-साथ उसकी राजनैतिक सम्प्रभुता प्राप्त करने अथवा उसे सुरक्षित रखने की भावना का प्रतीक होता है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का इस सन्दर्भ में यह भी तर्क है कि राष्ट्र एक भावना है।[1] जिससे बंधकर जन मानस अपने लिए एक भूभाग की कल्पना करता है और उसकी राजनैतिक सम्प्रभुता में अपनी स्वतन्त्रता की भी कल्पना कर लेता है।

इस रूप में यदि पुनः वेद और वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन करें तो यह देख सकते हैं कि वहाँ पर भी राष्ट्र के रूप में इस भूभाग का ही कथन किया गया है जिसमें राजा अपना-अपना राज्य संचालित करते थे। और इस रूप में राष्ट्र एक विस्तृत भूभाग के लिए वाच्य होता था किंवा समग्र भारतीय भूभाग की प्राचीन सीमाओं को ध्वनित करता था जिन सीमाओं का कथन हिमालय से दक्षिण तक समुद्र पर्यन्त किया है। यद्यपि इसमें बाद के समय में राष्ट्र और राज्य के रूप में कुछ अर्थ पृथक्-पृथक् समझा और कहा गया। राजनीति के विचारकों ने तो अधिकतर राज्य शब्द का ही प्रयोग किया और यदि कहीं पर राष्ट्र शब्द का प्रयोग भी किया तो उससे यह ध्वनित हुआ जैसे राष्ट्र राज्यों का संघ होवे।[2]

---

1. सं० सा० रा० भा०, पृ० 39

2. पा० रा० वि०, पृ० 327

जहाँ तक राष्ट्रीयता के विचारों का प्रश्न है, वह भी वेदों और पुराणों में स्पष्ट रूप से अंकित है और वहाँ पर राष्ट्र के प्रति भिन्न रूप में वैशिष्ट्य के भाव प्रदर्शन के साथ-साथ उसकी श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है और उससे जिस प्रकार से सर्व कल्याण की कामना की गई है, वह सभी राष्ट्र-प्रभाव का ही स्वरूप है। इस रूप में वैदिक ऋषि कहते हैं कि यह राष्ट्र श्रेष्ठतम है और इसकी नदियों का जल अमृतमयी है, वनों और वनस्पतियों का स्वरूप आनन्ददायक तथा जीवन दायक है। वे, भूमि,वन, पर्वत, नदी, देवता, भाषा और संस्कृति की श्रेष्ठतम स्थिति का वर्णन करते हैं और इसी रूप में वे अपने राष्ट्र को महत्वशील राष्ट्र के रूप में देखते हैं। उनका यह वर्णन और भाव ही उनके राष्ट्रप्रभाव को ध्वनित करता है। वेदोत्तर पौराणिक साहित्य में तो ये सभी राष्ट्र के समन्वित रूप में ही चित्रित हैं और पग-पग पर इनके गौरव को गाया गया है। वहाँ यह स्पष्टतः कहा गया है कि यह भूमि पावन है यहाँ के पावन तीर्थ क्षेत्र हमारे आत्मिक विकास के क्षेत्र हैं। नदियाँ हमारे लिए परम पावन हैं और पर्वत इस भूमि के रक्षक हैं। इसी रूप में उनका परम पावन राष्ट्रप्रभाव प्रकट होता है।

निष्कर्ष

इस रूप में यदि इस शोध प्रबन्ध के मूल भाव का और इसके फलितार्थ का विचार किया जाए तो हम यह देख सकते हैं कि इस देश में वैदिककाल से ही राष्ट्र की एक परिकल्पना यहाँ के विचारकों, ऋषियों और चिन्तकों के मन में रही है और निरन्तर उस राष्ट्र की विशेषताओं का आख्यान करने के कारण उनका राष्ट्रप्रभाव भी मुखर रहा है। और इस रूप में राष्ट्र का जो स्वरूप प्रकट हुआ है उसके अनुरूप यदि यह कहा गया है कि किसी निश्चित भूभाग का नाम राष्ट्र है तो उसमें किसी एक जनसमुदाय को भी निवास करना चाहिए।

जिसकी सांस्कृतिक और वैचारिक एकता स्पष्ट रूप से एकीकृत होवे। इसी तरह से जिस किसी भूभाग को राष्ट्र के रूप में अभिकल्पित किया गया हो उसकी धार्मिक एकता भी हो। अर्थात् उस भूभाग का जनसमूह एक ऐसे धर्म का पालन करने वाला हो जो जन हितकारी तथा राष्ट्र हितकारी हो। यह भाव वैदिक और वेदोत्तर साहित्य में सभी जगह समान रूप से व्यक्त किया गया है और इससे जिस रूप में धर्म की स्थापना हुई है, वह एक प्रकार से मनुष्य धर्म बन गया है, जिसमें सत्य, शौच, त्याग, तप, अहिंसा और सहिष्णुता जैसे तत्व विद्यमान हैं। यह एक ऐसा धर्म है जो इस राष्ट्र का प्राण तत्व है।

इसी तरह से राष्ट्र की परिकल्पना में यह भी परिकल्पित रहा है कि यह राष्ट्र हमारी राजनैतिक आकांक्षा की पूर्ति करता होवे तथा वहाँ का राजा, जो एक प्रकार से राष्ट्र का प्रतीक भी है, सबल और सक्षम हो तथा वह निरन्तर प्रजाहित में निरत रहे। राष्ट्र का भौगोलिक परिदृश्य सुरक्षित रहे और समस्त राष्ट्रवासी शत्रु की शत्रुतापूर्ण कार्यवाही के समक्ष समर्थ होकर खड़े होवें। यह राष्ट्र का स्वरूप प्रारम्भकाल से ही दिखता है और पुराणों में सम्पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है।

जहाँ तक राष्ट्रिभाव के वैदिक और पौराणिक विकास का प्रश्न है तो इस सम्बन्ध में यही कहना तथ्ययुक्त होगा कि वैदिक वाङ्मय और पौराणिक वाङ्मय का सम्पूर्णांश इस भाव से भरा हुआ है। वेदों में भारतमाता का स्वरूप स्पष्टतया वर्णित है और भारतीय संस्कृति के प्रति महनीय भाव अंकित है। इस राष्ट्र के वन, पर्वत, नदी, नगर आदि जिस श्रेष्ठभाव से वर्णित हैं, उससे ही सूक्त-द्रष्टाओं का राष्ट्रिभाव प्रकट होता है। हमारे ऋषियों ने राष्ट्र के इन तत्वों का न केवल वर्णनात्मक वर्णन किया है अपितु इनके गौरव

का गान करने के साथ-साथ अपने श्रद्धात्मकभाव को भी स्वर दिया है। उनके मन में अपनी भूमि, भाषा, संस्कृति, आचार-व्यवहार के प्रति इस मात्रा तक लगाव था कि वे इसके लिए सर्वस्व त्याग का भाव अपने मन में रखते थे तथा पग-पग पर सभी को उसके लिए आदर व्यक्त करने का आह्वान करते थे।

भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रभाव का एक आदर्शमय और सुन्दर स्वरूप यह है कि इसके राष्ट्र और राष्ट्रभाव में ऐसा कोई संकुचितभाव नहीं है जिससे किसी अन्य राष्ट्र अथवा राष्ट्रभाव को हीनता की दृष्टि से देखा जाए अथवा किसी की उपेक्षा की जाए। वेदों से लेकर पौराणिक साहित्य तक जिस राष्ट्र की और राष्ट्रभाव की अभिव्यंजना की गई है उसके अन्तस् में यह भाव निहित है कि सभी राष्ट्र सुदृढ़ हों और सभी का कल्याण हो। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो इस राष्ट्र का अपना विशिष्ट दृष्टि कोण है और यह भारतीय राष्ट्र का सच्चा राष्ट्रभाव है। इस रूप में हमारे पुराण एक स्वर से अपने राष्ट्र की परिकल्पना के साथ-साथ राष्ट्रभाव की ऐसी परि-कल्पना करते हैं जिसमें सभी की कल्याण कामना की गई है और अपेक्षा की गई है कि सबका मंगल होवे ।। शम् ।।

****

उद्धृत ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद मूलमात्र - जयदेव विद्यालंकार
   स्वाध्याय मण्डल (हिन्दी अनुवाद सहित)
2. अथर्ववेद प्रथम भाग- प्रकाशन-संस्कृति संस्थान
   बरेली-1976
3. अथर्ववेद द्वितीय खण्ड- प्रकाशन- संस्कृति संस्थान,
   बरेली-1975
4. अग्नि पुराण- चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी
   तथा
   आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना
5. अभिज्ञान शाकुन्तलम्- सं० डॉ० वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी
   महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-1981-82
6. आधुनिक राजनैतिक- डॉ० गंगा दत्त तिवारी,
   विचारधारायें मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
7. आधुनिक राजनैतिक- पुखराज जैन,
   विचारधारायें साहित्य भवन, आगरा- 1972
8. इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी-एम०एम० विलियम
   मोतीलाल बनारसीदास-1964
9. इम्प्रेशनस आफ साउथ अफ्रीका-
   लार्ड रोबर्ट ब्राइस
10. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली- भाग 8

(iii)

11. ईशादिद्वादशोपनिषद- श्री कैलाश विद्या प्रकाशन
मुनि की रेती, ऋषिकेश- 1976

12. उशनः स्मृति

13. उत्तर सत्याग्रह गीता- पं० क्षमाराव
हिन्द किताब लिमिटेड, बम्बई-1948

14. ऋग्वेद संहिता चतुर्थ भाग- सं० मैक्समूलर
कृष्णानन्द एकाडमी, वाराणसी-1983

15. ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, सन् 1974

16. ऋग्वेद (प्रथम खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली-1976

17. ऋग्वेद (सायणभाष्य सहित)-वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

18. ऋग्वेद (द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, 1976

19. एन्शियण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन- एफ०ई० पार्जीटर, आक्सफोर्ड-1922

20. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर- ए०ए० मैकडानल, लन्दन-1925

21. ऐतरेय ब्राह्मण- सायण भाष्य सहित

22. कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक)-वर्ष 24, संख्या -1
गीता प्रेस, गोरखपुर ।

23. कल्चरल हिस्ट्री फ्राम द वायु पुराण- डी०आर०पाटिल, दिल्ली-1973

24. कादम्बरी कथामुखम्- सम्पादन-डॉ० राजेन्द्र मिश्र, एवं डॉ० शिव बालक द्विवेदी
भारतीय प्रकाशन, कानपुर ।

25. कादम्बरी- आचार्य शेषराज शर्मा
चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी ।

॥।॥

26· काशिका - चौखम्बा विद्या भवन,वाराणसी-1967

27· किरातार्जुनीयम् ॥द्वितीय सर्ग॥-व्याख्या- डॉ0 राम भरोसे शास्त्री
विभा प्रकाशन ,इटावा

28· कूर्म पुराण - सं0 श्री नागशरण सिंह
नाग प्रकाशन ,जवाहर नगर,दिल्ली-1983

29· कौषीतकि गृह्यसूत्र -

30· कौटिलीय अर्थशास्त्र - सं0 वाचस्पति गैरोला
चौखम्बा विद्या भवन,वाराणसी-1962

31· कौटिलीय अर्थशास्त्रम् - वाचस्पति गैरोला,
चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी-1962

32· गरुण पुराण - चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस
वाराणसी- 1964

33· गोपथ ब्राह्मण - गास्त्रा सम्पादित

34· छान्दोग्योपनिषद् - शांकर भाष्य
गिरिकृत टीका सहित

35· जनरल आफ रायल एशियाटिक- सन् 1912
सोसायटी

36· जैमिनि सूत्र - कुमारिल भट्ट

37· तैत्तरीय आरण्यक

38· द ग्रेट एपिक आफ इण्डिया - हाप्किंस

39· दशपुराण व ध्रुवध्या दान - सन् 1927

40· देवी भागवत - बंगवासी प्रेस ,कलकत्ता ।

41· धर्मशास्त्र का इतिहास - पी0वी0काणे0
प्रथम भाग/चतुर्थ भाग उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति,लखनऊ-1984

42· नारद पुराण प्रथम भाग - संस्कृति संस्थान , बरेली ॥उ0प्र0॥
सन् 1984

43· नारद पुराण ॥द्वितीय खण्ड॥- संस्कृति संस्थान ,बरेली ॥उ0प्र0॥सन् 1985

[1]

44. पद्म पुराण - हरिनारायण आप्टे
पूना- 1893

45. पद्म पुराण [प्रथम खण्ड] - संस्कृति संस्थान, बरेली -1986

46. पद्मपुराण [प्रथम खण्ड] - संस्कृति संस्थान, वेदनगर, बरेली -1986

47. पद्मपुराण - आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना

48. प्रमुख राजनीतिक विचारक - डॉ० पुखराज जैन
साहित्य भवन, आगरा, 1984

49. प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक - प्रो० इकबाल नारायण
- शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 1981

50. पालिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेन्ट - जे० डब्ल्यू० गार्नर
अमेरिकन बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1935

51. पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें - [प्लेटो से बर्क तक] प्रथम भाग
डॉ० वी०एन०वर्मा
रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ [चतुर्थ संस्करण]

52. प्रिंसिपल्स् ऑफ पालिटिकल साइंस - आर०एन०गिलक्रिस्ट
ओरिएण्ट लॉगमैन लिमिटेड-1957

53. पुराण तत्व मीमांसा - श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
- हिन्दी प्रचारक मण्डल, लखनऊ, 1961

54. पुराण विमर्श - पं० बल्देव उपाध्याय

55. पुराण इण्डेक्स - वी०आर०आर०दीक्षितार, मद्रास

56. पुराणम् पत्रिका - सर्व भारतीय काशीराज न्यास, दुर्ग, राम नगर, वाराणसी।

57. पुराण समीक्षा - डॉ० हरि नारायण दुबे
इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट फार रिसर्च
इलाहाबाद।

58• पौराणिक धर्म एवं समाज – सिद्धेश्वरी नारायण राय
व यनद पब्लिकेशंस ,इलाहाबाद, 1968

59• फण्डामेन्टल्स आफ पालिटिकल- गुरुमुख निहाल सिंह
साइंस एण्ड आर्गनाइजेशन किताब महल, इलाहाबाद- 1966

60• बृहत् हिन्दी कोश – ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-1963

61• बृहन्नारदीय पुराण – चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन,
वाराणसी- 1975

62• बृहदारण्यक उपनिषद् – शांकरभाष्य सहित
गिरिकृत टीका सहित -काशी

63• ब्रह्माण्ड पुराण – खेमराज श्रीकृष्ण,बम्बई-1906

64• निरुक्तम् – महामुनियास्क

65• ब्रह्मपुराण – हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग , 1976

66• ब्रह्मवैवर्त पुराण – जीवानन्द विद्या सागर सम्पादित
कलकत्ता- 1888

67• बोधायन – गृह्यसूत्र

68• भविष्य पुराण [प्रथम खण्ड] – संस्कृति संस्थान ,बरेली -1984

69• भविष्य पुराण [द्वितीयखण्ड] – संस्कृति संस्थान, बरेली, 1984

70• भविष्य पुराण – श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई-1910

71• भविष्य पुराण [द्वितीय खण्ड]– संस्कृति संस्थान, बरेली-1984

72• भार्गवाज़ डिक्शनरी – सं0 1960

73• भार्गव स्टेण्डर्ड इलेस्ट्रेटेड – भार्गव बुक डिपो, वाराणसी- 1970
डिक्शनरी

74• श्री मद्भागवत महापुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर ,
[मूलमात्र] सं0 2010

( )

75. महाभारत — गीताप्रेस गोरखपुर
महाभाष्य – पत जील

76. मत्स्य पुराणाङ्क (कल्याण) – वर्ष 58 सं0 1, गीताप्रेस, गोरखपुर

77. मनुस्मृति – हिन्दी अनु0-शीवनाथ राय
हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा (प्र0 सं0)

78. कल्याण मत्स्यपुराणाङ्क उत्तरार्ध – वर्ष 59 सं0 1, गीताप्रेस, गोरखपुर -1985

79. मानव हिन्दी कोश (चतुर्थ खण्ड) – राम चन्द्र वर्मा
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग – 1985

80. मार्कण्डेय पुराण – श्याम काशी प्रेस, मथुरा-1941

81. मार्कण्डेयपुराण(प्रथमखण्ड) – संस्कृति संस्थान- बरेली – 1985

82. मीमांसा प्रमेय – डॉ0 राम प्रकाश दास
सुकृति प्रकाशन, नई दिल्ली-1988

83. मीमांसा दर्शन – डॉ0 प्रेमा अवस्थी,
साहित्य रत्नालय, प्रकाशक पुस्तक विक्रेता
37/50 गिलिस बाजार, कानपुर।

84. यजुर्वेद संहिता – स्वाध्याय मण्डल, सूरत
तथा
गंगा बुक डिपो, मथुरा- 1969

85. याज्ञवल्क्य स्मृति – हिन्दी व्याख्या, डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय
– चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि0सं0 2039

86. राजनीतिक निबन्ध – विजय कुमार अरोड़ा
सरस्वती सदन, दिल्ली – 1969

§ §

87• राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त — पुखराज जैन
साहित्य भवन, आगरा-1966•

88• राजनीतिक विचारों का इतिहास — डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा
कालेज बुक डिपो, जयपुर - 1986

89• लिङ्ग• पुराण (प्रथम पुराण) — संस्कृति संस्थान, बरेली

90• लिङ्ग• पुराण — आचार्य जगदीश शास्त्री
मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी,
सन् 1980

91• वराह पुराण — बंगाल एशियाटिक समिति, कलकत्ता- 1893

92• वामन पुराण — सम्पा0 श्री नारायण सिंह
प्रकाशन- जवाहर नगर, दिल्ली- 1983

93• वायु पुराण — हरि नारायण आप्टे, पूना, 1975

94• वाचस्पत्यम् (छठवाँ भाग) — तारानाथ भट्टाचार्य
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी- 1962

95• वायुमहापुराणम् — सं0 डॉ0 ब्रजमोहन चतुर्वेदी
नाग पब्लिशर्स, दिल्ली-1983

96• वाल्मीकि रामायण — बालकृष्ण शास्त्री
भुवनवाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

97• विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड) — संस्कृति संस्थान, बरेली- 1985

98• विष्णुपुराण (द्वितीय खण्ड) — संस्कृति संस्थान, बरेली - 1984

99• वेद सुधा — सं0 डॉ0 ईश्वर दत्त शील
प्रकाशन उद्योग, लखीमपुर - 1977

100• वेदकालीन राज्यव्यवस्था — डॉ0 श्याम लाल पाण्डेय,
सूचना विभाग (उ0 प्र0) 1971

101• वैदिक साहित्य का इतिहास - डॉ० कृष्ण कुमार
साहित्य भण्डार, मेरठ, 1981

102• वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन - डॉ० विश्वम्भर दयाल अवस्थी
सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, 1983

103• स्टडीज इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज़ - ए०डी० पुसाल्कर
बम्बई- 1955

104• स्टडीज इन द उपपुराणाज (भाग-1) - हाजरा

105• स्कन्द पुराण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

106• संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - श्री द्वारका प्रसाद शर्मा एवं पण्डित तारणीश झा
रामनारायण लाल, इलाहाबाद-1977

107• संस्कृत हिन्दी कोश - वामन शिवराम आप्टे
मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी 1966

108• संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना - डॉ० हरिनारायण दीक्षित
देववाणी परिषद्, नई दिल्ली-1983

109• संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी - एम०एम० विलियम
आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी

110• द स्टूडेण्ट संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी - वामन शिवराम आप्टे
मोती लाल बनारसीदास - 1970

111• सम्राट चरितम् - श्री हरि नन्दन भट्ट
टी०एन०बी० कोलेजियट स्कूल
भागलपुर - 1933

§ §

112. सिद्धान्त कौमुदी - बालमनोरमा उत्तरार्द्धम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
1956-58

113. शब्द स्तोम महानिधि - तारानाथ भट्टाचार्य
चौखम्बा संस्कृत सीरीज- 1967

114. शब्दकल्पद्रुम §चतुर्थ भाग§ - राजा राधाकान्त देव
चौखम्बा संस्कृत सीरीज - 1967

115. शतपथ ब्राह्मण - काण्डेल सम्पादित

116. शुक्रनीति - पं० ब्रह्मशंकर मिश्र
चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

117. हर्ष चरितम् - हिन्दी व्याख्या-श्री जगन्नाथ पाठक
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
1982

118. हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ० पी०सी० जैन
देवनागर प्रकाशन, जयपुर -1983

119. हिन्दू सभ्यता - डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी
सम्पादन- श्री वासुदेवशरण अग्रवाल
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1966

120. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर §भाग-1§ - एम० विण्टरनित्ज
कलकत्ता- 1950

121. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र §भाग-2§ - पी०वी० काणे